साहित्य निकुञ्ज की २ री लता

कलाका विवेचन

पं० मोहनलाल महतो "वियोगी"

कलाका विवेचन

कला

उत्पत्ति और विकास—मनुष्य चेतना सम्पन्न प्राणी है। वह अपने चतुर्दिक की सृष्टिका अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता-सुनता है और उसकी छाप उस पर पड़ती है, वासना-रूपसे उसमें भिन्न भिन्न वस्तुओं के छाया-चित्र अङ्कित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे यह सृष्टि प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक व्यापकरूप में प्रभावित करता है। आदि काल में मनुष्य की आवश्यकतायें थोड़ी थीं और उसका अनुभव भी साधारण था। वह अपने आस-पास जंगल झाड़, पशु पक्षी आदि को ही देखता था और इने-गिने पदार्थों से ही अपना काम चलाता था। उसका क्रियाकलाप एक सीमित क्षेत्र में ही होता था। इसी लिए उसके अनुभवों की संख्या थोड़ी और उनका विस्तार भी संकुचित था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ीं और क्रमशः अधिक जीव-जगत् उसके संपर्क और साक्षात्कार में आने लगा। इस संपर्क और साक्षात्कार के विस्तार के साथ मनुष्य के अनुभवों की भी वृद्धि

हुई और उसकी चेतना अधिकाधिक विस्तृत तथा परिमार्जित होती गई। धीरे धीरे उसमें स्मृति, इच्छा, कल्पना आदि शक्तियोंका आविर्भाव हुआ और अंत में उसे सदसद्-विवेक की वृद्धि का प्रसाद प्राप्त हुआ। प्रारंभ में जो मनुष्य अपने आस पास के दृश्य से ही परिचित था और उसकी इच्छा-शक्ति भी उन्हीं तक परिमित थी, आगे चलकर वह अदृश्य तथा अश्रुत वस्तुओं की भी कल्पना करने लगा। उसकी इच्छाओं और अभिलाषाओं का क्षेत्र भी बढ़ा। साथ ही उसमें सुन्दर-असुन्दर, सत् असत् और उचित-अनुचित की धारणा भी बद्धमूल हुई। आरंभ में ये धारणायें भी बहुत कुछ अविकसित अवस्था में रही होंगी। आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार मनुष्य के प्रयोगक्षेत्र में जो जो वस्तुएँ आई होंगी, उन पर उसने भले बुरे भाव का आरोप किया होगा। परन्तु समय पाकर उसके संस्कार दृढ होते गये, उसकी चेतना का विकास होता गया और उसकी बोधवृत्ति भी क्रम क्रम से सुसंघटित और पुष्ट होती गई। आगे चलकर तो ये ही संस्कार और वृत्तियां इतनी विकसित हुईं और मनुष्य समाज से इनका इतना घनिष्ट संबन्ध स्थापित हुआ कि ये ही मनुष्य की सभ्यता का मापदंड मानी जाने लगीं। जिस व्यक्ति की अथवा जिस समाज की ये वृत्तियां जितनी अधिक व्यापक और समन्वय पूर्ण हैं, वह व्यक्ति अथवा वह समाज उतना ही सभ्य समझा जाता है।

जिस क्षण से चैतन्य मनुष्य पर बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ने लगी, लगभग उसी क्षण से उसमें उसके

भिन्न-भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होने लगा। यह शक्ति मनुष्य मात्र के अस्तित्व के साथ लगी हुई है। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक संघटन के मूल में ही इस शक्ति का समावेश है। उसकी अंतरात्मा अपने चारों ओर की सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है उसे उसी रूप में वह व्यक्त भी करना चाहती है। बाह्य सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुःख, सुरूप-कुरूप, हित-अहित आदि की जो भावनायें उत्पन्न करती है उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिये अनिवार्य-सा ही है। मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इसी प्रकार हुआ है। जैसे चंचल समीर जल राशि पर स्वतः अपना चित्र अंकित कर देता है अथवा जैसे सूर्य की किरणें शिलाखंडों पर आप ही अपना शीतोष्ण गुण अंकित करती हैं, वैसे ही मनुष्य के मस्तिष्क में सम्पूर्ण जीव-जगत् का चित्र आपसे आप अंकित हो जाता है। मस्तिष्क में ये चित्र अदृश्य रूप में अंकित रहते हैं, पर मनुष्य की अंतरात्मा की यह स्वभावसिद्ध प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को इन्द्रियगोचर रूप में चित्रित करे। आरम्भ में, साधनों के अभाव के कारण, मनुष्य इंगितों अथवा अन्य स्थूल उपायों से इन चित्रों को अंकित करने की चेष्टा करता था। इस क्रिया से ही उसे यत्किंचित् संतोष और सांत्वना प्राप्त होता था, पर इनसे उसके मनोभाव यथोचित रूप से व्यक्त नहीं होते थे। कालानुक्रम से उसमें अभिव्यंजना की क्षमता का विकास होता गया और साथ ही अभिव्यंजना की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ भी प्रतिष्ठित होती गईं। अभिव्यंजना की इन्हीं

शक्तियों को 'कला' संज्ञा दी गई है। वर्तमान समय में मनुष्य की अभिव्यंजना-शक्ति इतनी अधिक विकसित हो गई है कि वह अपने मस्तिष्क-पट पर बाह्य सृष्टि के जिन छायाचित्रों को ग्रहण करता है उन्हें अनायास ही व्यक्त करने में समर्थ होता है। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि भिन्न भिन्न प्रमाद चित्रों के ग्रहण और उनके अभिव्यजन करनेमें कोई विषय भेद नहीं है—वे तो एक ही क्रियाचक्र के अंग हैं और अभिन्न रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

कला और अभिव्यञ्जना—यद्यपि अभिव्यंजनाको ही 'कला' का नाम दिया गया है, तथापि सम्पूर्ण अभिव्यंजना 'कला' नहीं है। यह मनुष्यकी शक्तिके अंतर्गत है कि वह केवल भिन्न भिन्न प्रकृति चित्रों को ग्रहण कर उनका उद्घाटन ही न करे, वरन् उनके सम्बंध म अपना मत, सिद्धान्त अथवा नियम भी प्रकट करे। मनुष्य की बुद्धि में यह शक्ति होती है कि वह केवल वस्तुओं का चित्रांकण ही नहीं करता, प्रत्युत उनकी मीमांसा, उनका श्रेणी-विभाग और नियम-निर्धारण आदि भी करता है। मनुष्य केवल कलाकार ही नहीं होता, वह दार्शनिक भी होता है, वह अपने सूक्ष्म दर्शन से सृष्टिचक्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विवेचन, विश्लेषण और श्रेणी विभाग करता है, वह सूत्र रूपमें अनेक प्रकार के सिद्धान्त व्यक्त करता है, जो उपदेश के रूप में ज्ञान की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक तथ्योंका निरूपण होता है और दर्शन-शास्त्रकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकारका दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य 'कला' नहीं है,

यद्यपि यह भी मनुष्यकी अभिव्यंजना-शक्तिका एक अंग है। सर्व शास्त्रकी विविध प्रणालियाँ और प्रक्रियायें भी कलाकी श्रेणी में नहीं आ सकतीं। कलाका सम्बन्ध नियमोंसे नहीं है। वह तो भावनाओंकी अभिव्यक्ति मात्र है। बाह्य जगत्की भिन्न वस्तुओं का—एक एक वस्तु का—जैसा प्रतिबिम्ब मानस-मुकुर पर पड़ता है, कलाका सीधा सम्बन्ध उसीसे है। वह सदैव व्यष्टिसे संपर्कित रहती है। नियम-निर्माण और सिद्धान्त समुच्चय उसकी विस्तार-सीमासे बाहर हैं। इतिहासका क्षेत्र भी कलाका ही क्षेत्र है, क्योंकि उसमें नियम निरूपण नहीं किया जाता, व्यक्तियोंका चरित्र चित्रण ही किया जाता है। परन्तु इतिहासमें केवल स्थूल और घटित घटनाओं तथा वास्तविक व्यक्तियोंका ही चरित्र-चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक चरित्र चित्रणमें यद्यपि कल्पनाका पुट कुछ मात्रामें रहता है, पर कलाओंकी भांति इतिहासमें कल्पनाकी अबाध गति नहीं पाई जाती। इस प्रकार कलाकी व्यापकता इतिहासकी अपेक्षा बहुत अधिक है। कलाओंके भीतर सृष्टिके समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया-कलापकी व्यंजनाकी जा सकती है। मनुष्यकी अनुभूतियों, कल्पनाओं और उसके सम्पूर्ण ज्ञानका एक बृहत् अंश कलाका विषय बन सकता है। भिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों, दार्शनिक तथ्यों और तार्किक सरणियोंके सांगोपांग वर्णन भी कलाके ही घेरेमें आते हैं। न्यायशास्त्रके नियम कला नहीं कहे जा सकते, पर वे इस प्रकार सजाकर उपस्थित किये जा सकते हैं कि उनमें कला देख पड़े। सारांश यह कि मनुष्य

शक्तियों को 'कला' संज्ञा दी गई है। वर्तमान समय में मनुष्य की
अभिव्यंजना-शक्ति इतनी अधिक विकसित हो गई है कि वह अपने
मस्तिष्क-पट पर बाह्य सृष्टि के जिन छायाचित्रों को ग्रहण करता है
उन्हें अनायास ही व्यक्त करने में समर्थ होता है। अब तो यहाँ तक
कहा जाता है कि भिन्न भिन्न प्रकार चित्रों के ग्रहण और उनके
अभिव्यंजन करनेमें कोई विषय भेद नहीं है—वे तो एक ही क्रिया
के अंग हैं और अभिन्न रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

कला और अभिव्यञ्जना—यद्यपि अभिव्यंजनाको
'कला' का नाम दिया गया है, तथापि सम्पूर्ण अभिव्यंजना 'कला'
नहीं है। यह मनुष्यकी शक्तिके अन्तर्गत है कि वह केवल भिन्न भि
प्रकृति चित्रों को ग्रहण कर उनका उद्घाटन ही न करे, वरन् उ
सम्बंध में अपना मत, सिद्धान्त अथवा नियम भी प्रकट
मनुष्य की बुद्धि में यह शक्ति होती है कि वह केवल वस्तुओं
चित्रांकण ही नहीं करती, प्रत्युत उनकी मीमांसा, उनका
विभाग और नियम-निर्धारण आदि भी करती है। मनुष्य
कलाकार ही नहीं होता, वह दार्शनिक भी होता है, वह अ
दर्शन से सृष्टिचक्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से
विश्लेषण और श्रेणी विभाग करता है, वह सूत्ररूपमें अने
के सिद्धान्त व्यक्त करता है, जो उपदेश के रूप में ज्ञान क
बन जाते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न वैज्ञानिक
होता है और दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा होती है।
दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य

प्रसिद्ध कला शास्त्रीका मत है कि मनुष्यकी भावना शक्तिको इच्छा शक्तिका परवर्ती मानना उचित नहीं। कलाका सम्बन्ध मनुष्यकी भावनासे ही है, इच्छासे नहीं, कलाके मूलमें यद्यपि भावनाका ही अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, पर सभ्यताके विकासके साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यकी परिस्थितियाँ जटिल होती गईं और उसमें समाजके हित-अहितका ध्यान बढ़ता गया, त्यों त्यों उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती गई और वह उसके मानसिक संघटनका एक ठोस अंग बन गई। कालान्तरमें मनुष्यकी इच्छा शक्ति उसकी भावनाओं पर नियन्त्रण करने लगी और अब तो मनुष्यका ज्ञान और उसकी इच्छायें उसकी सम्पूर्ण भावनाओंसे एकाकारमें मिली देख पड़ती हैं। मनुष्यकी ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओंको चैतन्य बनाती और उसकी इच्छा-शक्ति उन भावनाओंको शृंखलित और संयमित रखती है। इस प्रकार इन तीनोंके संयोगसे कलाओं द्वारा मानवहितका सम्पादन होता है और उनमें सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है। यदि भावना-शक्तिके साथ ज्ञान-शक्तिका समन्वय न होता तो कलायें अपने आदि रूपमें विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करतीं और यदि भावना-शक्तिके साथ इच्छा शक्तिका समन्वय न होता तो कलाओंकी उच्छृङ्खलताको रोकना असम्भव होजाता। अपनी आदिम अवस्थामें मनुष्यकी इच्छा शक्तिके साथ लोकहित का सम्बन्ध चाहे न भी रहा हो, पर समाजकी सभ्यताकी वृद्धि होने पर तो उसकी इच्छायें लोक-मंगलकी ओर अवश्य उन्मुख हुईं। प्रारम्भमें, सम्भव है आहार, निद्रा भय, मैथुन आदि ही

की भावनाओंका जहाँ तक विस्तार है वह सब कलाका विषय है और यह तो विदित ही है कि मानव-भावनाओंका विस्तार विराट और प्रायः सीमा-रहित है।

कला और मनःशक्तियाँ—कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने मनुष्यकी मानसिक शक्तियोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया है—*ज्ञान-शक्ति, भावना-शक्ति, और इच्छा-शक्ति।* भारतीय शास्त्रोंमें भी इस प्रकारका श्रेणी-विभाग है, पर यहाँ भावना-शक्तिके स्थान पर प्रक्रिया-शक्तिका नाम दिया गया है। संस्कृत साहित्यमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न बुद्धिकी तीन प्रक्रियायें मानी गई हैं। संस्कृतके पण्डितोंने भावना शक्तिको नहीं माना है, भावना और इच्छा शक्तियाँ इच्छाके ही अन्तर्गत मानी हैं। इन दोनों विभागोंमें यही विशेष अन्तर है। मनोविज्ञान-शास्त्रके अनुसार ये शक्तियाँ एक दूसरेसे *अविच्छिन्न रूपमें मिली हुई हैं और अलग नहीं की जा सकतीं।* यद्यपि कलाके मूलमें भावना शक्तिका प्राधान्य है, पर भावना शक्तिका विश्लेषण करने पर उसमें भी ज्ञान और इच्छाकी शक्तियाँ सन्निहित देख पड़ती हैं। भारतीय साहित्य और कलाओंके मूलमें जो स्थायी भाव माने गये हैं वे केवल विक्षिप्तोंकी विवेक-रहित भावनायें नहीं हैं। उनके साथ ज्ञान शक्तिका भी समन्वय है। ऐसा न होता तो कलाकार और पागलमें भेद ही क्या रह जाता। इसी प्रकार भावनाके साथ इच्छा शक्तिका भी योग रहता है। पाश्चात्य विद्वान् अब तक यह विवाद करनेमें लगे हुए हैं कि प्रारम्भमें मनुष्यकी इच्छा शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ या भावना शक्तिका। एक

प्रसिद्ध कला शास्त्रीका मत है कि मनुष्यकी भावना शक्तिको इच्छा शक्तिका परवर्ती मानना उचित नहीं। कलाका सम्बन्ध मनुष्यकी भावनासे ही है, इच्छासे नहीं, कलाके मूलमें यद्यपि भावनाका ही अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, पर सभ्यताके विकासके साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यकी परिस्थितियाँ जटिल होती गईं और उसमें समाजके हित अहितका ध्यान बढ़ता गया, त्यों त्यों उसकी इच्छा शक्ति दृढ़ होती गई और वह उसके मानसिक संघटनका एक ठोस अंग बन गई। कालान्तरमें मनुष्यकी इच्छा शक्ति उसकी भावनाओं पर नियन्त्रण करने लगी और अब तो मनुष्यका ज्ञान और उसकी इच्छायें उसकी सम्पूर्ण भावनाओंसे एकाकारमें मिली देख पड़ती हैं।/मनुष्यकी ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओंको चैतन्य बनाती और उसको इच्छा शक्ति उन भावनाओंको शृंखलित और संयमित रखती हैं। इस प्रकार इन तीनोंके संयोगसे कलाओं द्वारा मानवहितका सम्पादन होता है और उनमें सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है।/यदि भावना-शक्तिके साथ ज्ञान-शक्तिका समन्वय न होता तो कलायें अपने आदि रूपमें विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करतीं और यदि भावना-शक्तिके साथ इच्छा शक्तिका समन्वय न होता तो कलाओंकी उच्छृङ्खलताको रोकना असम्भव होजाता। अपनी आदिम अवस्थामें मनुष्यकी इच्छा शक्तिके साथ लोकहित का सम्बन्ध चाहे न भी रहा हो, पर समाजकी सभ्यताकी वृद्धि होने पर तो उनकी इच्छायें लोक-मंगलकी ओर अवश्य उन्मुख हुईं/। प्रारम्भमें, सम्भव है आहार, निद्रा भय, मैथुन आदि ही

मनुष्यकी इच्छावृत्तियाँ रही हों, पर आगे चलकर इनके स्थान पर अथवा इनके साथ ही साथ अन्य लोकोपकारिणी वृत्तियोंका उदय हुआ और ये वृत्तियाँ मनुष्यकी भावनाओंमें एकाकार होकर उसके मानसिक संपदनका अभिन्न अंग बन गई। सारांश यह कि मनुष्यकी सतत वर्द्धमान विवेकशक्ति और उसकी सतत उन्नतिशील इच्छा-शक्ति उसकी भावना-शक्तिके साथ अभिन्न रूपमें लगी हुई हैं, और वे मिलकर मानव-समाजका विकास करनेमें तत्पर हैं।

कला और प्रकृति—प्रकृतिके विभिन्न स्वरूपों और रूपचेष्टाओंका प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और वे ही उसकी अभिव्यंजनाके विषय बनते हैं। इस दृष्टिसे कला और प्रकृतिका घनिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है। प्रकृतिके जो चित्र अपनी विशेषताओं अथवा मनुष्यकी अभिरुचिके कारण उसके मनमें अंकित होते हैं उन्हें ही वह कलाओंका रूप देकर व्यजित करता है। प्रकृतिकी ओर मनुष्य निसर्गतः आकर्षित रहता है, क्योंकि उससे उसकी वासनाओंकी तृप्ति होती है। इस नैसर्गिक आकर्षणका परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृतिके उन चित्रोंको अपने हृदयके रससे सिक्त कर अभिव्यजित करता है और वे ही भिन्न-भिन्न कलाओंके रूपमें प्रकट हो मानव हृदयको रसान्वित करते हैं। भारतीय साहित्यमें इसे ही "रस" कहते हैं, पर साहित्य ही नहीं, अन्य कलाओंसे भी इसकी निष्पत्ति होती है। किसी प्राकृतिक दृश्यको देखकर कलाकारके हृदयमें जो भावना जितनी तीव्रता अथवा स्थायित्वके साथ उदय होगी वह यदि उतनी ही वास्तविकता (सचाई) के साथ उसे

व्यक्त करनेमें समर्थ हो तो उस अभिव्यक्तिसे दर्शक, श्रोता अथवा पाठक-समाजको भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है। मनुष्य-मनुष्यके हृदय-साम्यका यही रहस्य है कि कलाकारकी अन्तरात्माका सच्चा भाव उसकी कलावस्तुमें निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाजको रसान्वित करनेमें समर्थ होता है। परन्तु जब कभी कलाकारका जीवन अथवा जगत् सम्बन्धी अनुभव सच्चा नहीं होता तब वह उन्हें उचित रीतिसे व्यक्त करनेमें कृतकार्य नहीं होता और मानव समाज उसकी कृतिसे तृप्ति नहीं प्राप्त करता। यही कलाकारकी असफलता है। यद्यपि कला प्रकृतिकी अभिव्यंजना ही कही जाती है, तथापि कुछ विद्वान प्रकृतिमें प्राप्त आनन्दको काव्यानन्दसे भिन्न मानते हैं। भारतीय रसशास्त्री जब काव्यके अलौकिक आनन्दका व्याख्यान करता है तब वह प्राकृतिक जगत्‌को काव्य-जगत्‌से भिन्न ठहरानेका उपक्रम करता है। जब यह कहा जाता है कि काव्यानन्द तो ब्रह्मानन्द सहोदर है तब यह नहीं कहा जाता कि प्रकृतिका आनन्द भी ब्रह्मानन्द-सहोदर है। इस सम्प्रदायके अनुयायी रसों को नव श्रेणियोंमें बाँटते हैं और बीभत्सरसको कविताको भी अलौकिकानन्द विधायिनी बतलाते हैं। परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि कूड़ा कर्कटके किसी सड़े गले बीभत्स दृश्यको देखकर भी वैसे ही आनन्दकी उपलब्धि होती है। ऐसा तो बहुत लोगोंको कहते सुना जाता है कि उन्हें प्राकृतिक वस्तुओंको देखकर वह प्रसन्नता नहीं होती जो काव्यमें उनका वर्णन पढ़कर होती है। प्रसिद्ध इटालियन विद्वान् क्रोसका भी मत है कि कला अनुभूति

एक भिन्न प्रकारकी अनुभूति होती है। परन्तु प्रकृति और कलाओं का सम्बन्ध दृढ़ रखनेके उद्देशसे कुछ विद्वान् इस बातका खंडन करने लगे हैं कि प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्दमें कोई तात्त्विक भेद है। हमारे देशमें एक विशिष्ट दर्शन-परम्पराके अनुसार तो यह दृश्य जगत् माया और मिथ्या है। इसमें लिप्त होना और इससे आनन्द पानेकी आशा करना मृग-मरीचिका है। पर काव्यगत आनन्दके सम्बन्धमें ऐसा आरोप नहीं सुना गया। सम्भव है, इसी कारण रीति-कालका भारतीय साहित्य जीवनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर पतित हो गया और उस पतनसे उसका उद्धार न किया जा सका। हिन्दीमें कुछ समालोचक केशवदासकी आलंकारिक रचनाओंको हृदयहीन कहते हैं पर यह तो रस-सम्प्रदायकी उस परम्पराका ही परिणाम जान पड़ता है जिसने प्रकृतिसे नाता तोड़कर अलग ही काव्यानन्द बाँटनेका बीड़ा उठाया था।

अंकित करनेमें समर्थ होता है और वही दूसरी बार किसी शृङ्गार-मूर्तिमती रमणीका चित्र भी चित्रित करनेमें सफल होता है तो यह कल्पना की जा सकती है कि कलाकार की व्यापक भावना योद्धा और रमणी दोनोंसे ही समानरूपमें सहानुभूति रखती है जैसा कि उसकी कलाकी अभिव्यञ्जनासे प्रकट होता है। यदि महाकवि शेक्सपियर एक डाकूका वर्णन भी उतनी ही क्षमतासे करते हैं जितनी क्षमतासे एक साधु पुरुषका तो यह उनके विस्तृत अनुभवकी ही सूचना है। जीवन-सम्बन्धी अनुभव ही काव्य तथा कलाओंमें भी व्यक्त होते हैं। प्रकृति और कलाओंमें विभेद है तो इतना ही है कि प्रकृति साधारण जनोंके लिए बिखरी हुई प्रसरित और विशृंखल सी है, परन्तु कलामें उसे संयम, मर्यादा तथा शृंखला मिलती है। प्रकृतिकी अनुभूति कोई एकान्त अनुभूति नहीं होती,परन्तु कलाकी अनुभूति एकान्त होती है। उसमें एक प्रकारकी पूर्णता होती है, जो साधारण दर्शकोंको प्रकृति में नहीं देख पड़ती। कलाकार तो प्रकृतिमें उस सम्पूर्ण नियम, शृंखला, अङ्गविन्यास, पूर्णता आदिके दर्शन करता है जो उसकी कलावस्तुके द्रष्टा, श्रोता अथवा पाठक उस कलावस्तुमें करते हैं—यदि कलाकारमें प्राकृतिक दृश्योंको देखकर उन समस्त भावनाओंका उद्गम न हुआ होता तो उसकी कलावस्तुमें वे सन्निहित न हो सकतीं और न उसके देखने-सुननेवाले उसमें उन भावनाओंका अस्तित्व पा सकते। सारांश यह कि साहित्य और कलाओंका आनन्द उस आनन्दसे भिन्न नहीं है जो साहित्यकार अथवा कलाकारके हृदयमें प्राकृतिक वस्तुओंको

देखकर उत्पन्न होता है। यह भी कहा जा सकता है कि कलाओंका आनन्द अथवा काव्यानन्द वास्तवमें मूल प्राकृतिक आनन्दका प्रतिबिम्ब होनेके कारण उससे न्यूनतर भी है। यहाँ प्राकृतिक आनन्दसे तात्पर्य प्रकृतिसे उत्पन्न इन्द्रियगोचर सुखद प्रभावसे है जो मनुष्यको कल्पना द्वारा उसे प्राप्त होता है। प्राकृतिक वस्तुओंका उपभोग—खाना पीना, सोना आदि—जो उस आनन्दसे नितान्त भिन्न है। उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता।

कला और आचार—हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि सृष्टिके आदिमें चाहे जो अवस्था रही हो, पर सभ्यताके विकासके साथ मनुष्यमें भले-बुरेका ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य-प्रकृतिका एक अन्तरंग बन गया। सम्पूर्ण कला और साहित्यमें मनुष्यके आचारकी छाप पड़ी हुई है। मनुष्यकी विवेक-बुद्धि उसकी इच्छाओंको संयमित रखती है, जिससे उसकी भावनायें परिमार्जित होती जाती हैं। इन परिमार्जित भावनाओंसे सम्पन्न कलायें भी सदैव मनुष्य-समाजकी सद्वृत्तियोंकी प्रतिकृति होती हैं। जो देश अथवा जाति जितना अधिक परिष्कृत तथा सभ्य होगा उसकी कलाकृतियाँ भी उतनी ही अधिक सुन्दर और पुष्ट होंगी। इससे स्पष्ट है कि कला-निर्माणमें आचारका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने इस सम्बन्धमें कुछ ऐसे प्रकारोंकी सृष्टिकी है जिससे भ्रम बढ़ रहा है। एक प्रवाह सो उस विद्वद्वर्गका खड़ा किया हुआ है जो मनोविज्ञान-शास्त्रकी जानकारीका गर्व रखता है और यह घोषणा करता है कि कविता

और कलायें मनुष्यकी कल्पनासे निस्सृत होती हैं। कल्पनाका विश्लेषण करते हुए इस सम्प्रदायके विद्वान् बतलाते हैं कि वास्तविक जगतमें सभ्यता और समाज व्यवस्थाके कारण हमारी जो इच्छायें दबी रहती हैं वे ही कल्पनामें आती हैं और कल्पना-द्वारा कलाओंमें व्यक्त होती हैं। कलाओंमें शृङ्गार रसका आधिक्य इस बातका प्रमाण बतलाया जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाले पाश्चात्य विद्वानोंने शेलीकी कविताओं, माइकेल इंगिलोंकी कला-सृष्टियों और शेक्सपियरके काव्यमें भी इन्हीं दबी हुई इच्छाओंका उद्रेक दिखाया है। इस वर्गके आचार्य फ्रूड नामक विद्वान् हैं, जिन्होंने स्वप्न विज्ञानके निर्माण करनेकी चेष्टाकी है और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि स्वप्नमें मनुष्यकी कल्पना और भावना उन दिशाओंमें जाती हैं जिन दिशाओंमें वे समाजकी सृष्टिके सामने नहीं जा पातीं। फ्रूड महोदयके इन्हीं स्वप्न-सिद्धान्तों को कुछ विद्वान् कविता तथा कलाओंमें भी चरितार्थ करते हैं। परन्तु इस प्रकारके अनोखे सिद्धान्त अधिकांशमें अर्द्धसत्य ही होते हैं और कलाओंका अनिष्ट करनेमें सहायक बन सकते हैं। यदि यह स्वप्न सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओंमें भी इसका अधिकार हो जाय तो कलाओंसे आचारका बहिष्कार ही समझना चाहिए, परन्तु इस सिद्धान्तके अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि या कलाकार किसी सुन्दर रमणीका चित्र अंकित करता है तो उसका यही आशय नहीं होता कि वह

कल्पना-जगतमें अपनी विलास वासनाकी पूर्ति करता है अथवा यदि वह किसी साधुसन्तका चित्र अंकित करता है तो इसका सर्वथा यही तात्पर्य नहीं कि वह स्वयं साधु-प्रकृति और सदाचारी है। संसारके श्रेष्ठ कलाकारोंने अनेक प्रकारकी कला सृष्टियाँकी हैं। स्वप्न-सिद्धान्तके अनुसार उनकी मनोवृत्तिकी छानबीन करना फलप्रद नहीं हो सकता। वह सिद्धान्त ही वहाँ प्रयोग करनेके अयोग्य और असम्भव है। इतना हम अवश्य यह कहते हैं कि संसारकी अब तककी श्रेष्ठ कला-कृतियाँ अधिकांशमें विवेकवान् और आचारनिष्ठ महापुरुषों-द्वारा प्रस्तुतकी गई हैं।

विद्वानोंका एक दूसरा दल यथार्थवादके नाम पर भी बहुत कुछ ऐसी ही बातें करता है। मनुष्यके शरीर-संगठनका विश्लेषण करके ये विद्वान् यह आभास देते हैं कि उसकी मूल-वृत्तियाँ आहार, निद्रा आदि शारीरिक आवश्यकताओंकी तृप्तिके लिये ही होती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्योंको जो अन्य उदात्त वृत्तियाँ होती हैं वे दृढ़मूल नहीं हैं। केवल सभ्यताके निर्वाहके लिए हैं। हमारे भारतीय मनीषियोंने इस सिद्धान्तका सदैव विरोध किया है, उन्होंने मनुष्य और पशुका अन्तर समझा है और वे उच्च धार्मिक वृत्तियोंके उन्नतिशील विकासका सदैव प्रयास करते रहे हैं। यदि पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार मनुष्यकी मूल मनोवृत्तियाँ केवल शरीरजन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक नहीं हैं तो भी वे यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यताकी आवश्यकताओंके अनुसार इनकी सृष्टि हुई है। यदि इनका कथन स्वीकार भी कर

लिया जाय तो भी सभ्यताकी आवश्यकतायें क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं। चिरविकासशील सभ्यताका पालन न करनेकी आवश्यकता समझकर मनुष्य सदाचारका अभ्यास करता है और अभ्यास-परंपरासे वह उसके शारीरिक तथा मानसिक संगठनका अविच्छेद्य अंग बन जाता है। फिर तो जिस प्रकार पंकसे पंकजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शारीरिक वृत्तियोंसे मनुष्यकी उदात्त वृत्तियोंका उन्मेष होकर कालान्तरमें परमशोभन रूप धारण करती हैं।

विद्वानोंका एक तीसरा वर्ग "कलाके लिये कला" सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचारको कलाके बाहरकी वस्तु ठहराता है, 'कलाके लिये कलाके' सिद्धान्तका अर्थ स्पष्ट न होनेके कारण इस सम्बन्धमें बहुत-सी भ्रान्ति फैली हुई है। कलाके विवेचनमें तो हम भिन्न भिन्न कला वस्तुओंका एक एक करके विवेचन कर सकते हैं अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियोंकी अलग-अलग तुलना कर सकते हैं· उन कला सृष्टियोंके स्रष्टा भिन्न-भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्योंके विकासकी परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अज्ञेय प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-कालकी परिस्थिति, सभ्यता, आचार, मनःशक्ति आदिका एक जटिल संमिश्रित रूप है। जब यही मनुष्य कला-सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कलाका विवेचन करनेमें इन सम्पूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्तिकी एक कला-सृष्टिमें इतनी जटिलतायें हैं तब तो संसारकी सम्पूर्ण कला-वृत्तियों को लेकर उनकी तथा उनके सृजन करनेवालेकी अपार भाव

भिन्नता—की कोई सीमा ही नहीं मिल सकती। इस अवस्थामें 'कलाके लिये कला' का' हमारे लिये केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है, उसके कुछ अपने नियम हैं। उन नियमोंका पालन ही 'कलाके लिए कला' कहला सकता है। कलाके विवेचनमें उन नियमोंके पालन-अपालनके सम्बन्धकी चर्चा ही जाती है और कला साहित्य सम्बन्धी शास्त्रोंमें उन्हीं नियमोंका कोटि-क्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओंकी विन्यास पद्धति कहना चाहिए। इन नियमोंका निरूपण कलाके व्यक्तित्वको स्पष्ट करता है और मनुष्यके अन्य क्रिया-कलापोंसे उसकी पृथक्ता दिखाता है। कलाकारकी ओरसे आँखें हटाकर केवल उसकी कला-वस्तुकी परीक्षा की जाती है और इस परीक्षामें व्यापक कलातत्त्व ही सामने आते हैं। आचार सभ्यता और संस्कारके प्रश्न कलाके लिये तात्त्विक नहीं। वे एक एक कलाकृतिकी अलग-अलग विवेचन करने पर उपस्थित होते हैं। हमारे देशके साहित्य-शास्त्रियोंने 'कलाके लिए कला' की समस्याको व्यापक रूपमें देखा था और उनकी शास्त्रीय समीक्षाकी पुस्तकोंमें ऐसा ही व्यापक विचार है। पश्चिममें इसे लेकर बहुत-सी खींच-तान हुई है। किन्तु तथ्य इतना ही है कि वस्तुरूपमें कलाओंका प्रत्यक्षीकरण करते हुए आचार आदिके प्रश्न वास्तवमें अन्तर्हित होजाते हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि कलाका आचारसे कोई सम्बन्ध नहीं। आशय यही है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र आचार-सम्बन्धी शास्त्रसे भिन्न है।

कला तत्त्व

अवतरण—कहा जाता है कि दर्शन और श्रवण आदिका नाम ही विज्ञान है और इस विज्ञानकी अनुशीलित अवस्था ही दर्शन (Philosophy) कहलाती है और दर्शन-शास्त्रकी परिशीलित, अनुभूति और क्रियात्मक अवस्थाका नाम ही धर्म्म है। धर्म्मकी सामाजिक दान, तप और यज्ञ-सम्बन्धी साधन-साधना और उपास्य साहित्यके क्रिया-कलापका नाम ही कला है। इसमें ललित कला आत्माकी सुकोमल, मंजु, मृदुल और मनोज्ञ नैतिक साधन-शृंखला है और अन्यान्य कलाएँ स्थूल साधनाके आवश्यक उपकरण हैं। इनमें सूक्ष्म कला भावोंकी उत्पादक है और अन्य कलाएँ अभावकी उत्पादक हैं। आत्मिक भाव-भावनाके अतिरेकका क्रमोन्नत फल ललित कला है और अभाव तथा आवश्यकताओंका परिणाम अन्यान्य कलाएँ हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि प्रकृति और पुरुषको सदैव साथ देखनेवाली या प्राकृतिक दृश्यों में पुरुषका अनुभव करनेवाली हिन्दू जैसी आध्यात्मिक जातियोंकी दृष्टिमें कलाएँ भी पुरुषोत्पन्न होनेके कारण परम पुरुषकी साधनाका सरस साहित्य ही हैं। यहाँ प्रायः सभी तरहके क्रिया-कलाप और कलाओंका उपयोग तथा विनियोग आत्मतत्त्वकी आराधना ही है। इनकी वस्तु और मूर्ति-निर्माण कलाएँ इस गिरे हुए समयमें भी हृदयानुभवकी वस्तु और किसी अज्ञेय आराध्य देवकी उपासनाका

साधन हैं। दूसरी कलायें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे इसी साधनाकी सामग्री हैं।

कला शब्दकी व्यापकता—कलाका माहात्म्य अनादि कालसे चला आ रहा है। वेदों तकमें कला शब्द आया है और उनमें इसका गुणगान है। भगवान् के अवतारोंका भी कला शब्दसे निर्णय होता है। चन्द्रमाकी भी कला होती है। साधारण बोल-चाल में भी 'कलाधारी' शब्द काममें आता है। सबसे बड़ा कलाधर ईश्वर ही समझा जाता है। प्रकृतिकी अपनी कला है। कोई उसे ब्रह्माकी कला भी कहता है। व्यवहारिक संसारमें प्रत्येक कार्यकी कला है। प्रत्येक क्रियात्मक विज्ञान कला ही है। विचार और वाणी भी कला का विषय है। मनुष्य-निर्मित प्रत्येक वस्तुका कलासे सम्बन्ध है। एक विद्वान् तो यहाँ तक कहता है कि समस्त विश्व ही कला है। जो कुछ है कला है। स्थूल और सूक्ष्म सब विषय कलाके अन्तर्गत हैं। मनुष्य-समाजका सम्पूर्ण इतिवृत्त कलात्मक ही है। बात-बातमें कला है और कला कलामें बात है। खड़ा रहना, बैठना, चलना और घूमना भी कला है। वेदकी रचना कला है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणका क्रम भी कला है। सारांश यह है कि दैवी और मानवी समस्त अस्तित्व कलामय हैं अथवा कला से उनका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

कलाके प्रकार और भेद—कलाके विषयमें लोगोंके अनेक मत, विचार, स्कूल और संप्रदाय हैं। कोई उसे केवल सौंदर्य बताते हैं तो कोई उसे महान उपयोगी समझते हैं। किसीके मतसे

यह मनुष्यके दिल-बहलावकी वस्तु है और कोई 'योगः कर्मसुकौशलम्" कहकर अनुपम माहात्म व्यक्त करता है। परम्पराके विचारसे कुछ स्थूल और सूक्ष्म कलाएँ भी हैं। अनेक लोगोंके मत से नृत्य-कला भी ललित कला है। ललित कलाएँ तो कला-संसारकी महारानियाँ हैं हीं। वर्ण-विज्ञानकी दृष्टिसे कला चार प्रकारकी बतलायी जाती है और गुण-त्रयके भेदसे तीन प्रकार की। कोई ललित कलाके ६ भेद बतलाते हैं तो कोई सब तरहकी कलाओंके शताधिक भेद-प्रभेद मानते हैं। वैसे परम्परागत कलाके ६४ भेद हैं। अंतरंग और बहिरंग दृष्टिसे भी कला दो प्रकार की हैं। अनेक लोगोंकी दृष्टिसे कलाके अनन्त भेद हैं। इनके अतिरिक्त अनुकरण-प्रधान और कल्पना प्रधान, ये भी कलाके रूप हैं।

कलाका लक्षण—कलाकी लाक्षणिकता पर विद्वानोंके विभिन्न विचार हैं। प्राच्य लाक्षणिक परम्परा तो पूर्णतः मानवीय है। प्राचीन लोग मानवता को ही कलाका लक्षण समझते थे। वे कलाविहीन मनुष्यको पशु मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवताके समस्त खेल कूद तथा क्रिया-कलाप और ज्ञान-ध्यान कला ही हैं। वर्तमानकालके सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति महात्मा गाँधी कला का यही लक्षण करते हैं। उनके विचारसे गीताके तीसरे अध्याय का सम्पूर्ण योग कला है। विचार-पूर्वक किये गये प्रत्येक कार्यको वे कला मानते हैं और यह इस लिए कि उसमें क्रियात्मक रस होता है। वे सेवाको भी कला मानते हैं। वे आत्माके ईश्वरीय संगीतको भी कला बतलाते हैं। ऐसे भी विद्वान् हैं जो समस्त मानवीय

आचार-विचार, नीति धर्म और कर्मको कलाका ही रूप समझते हैं और अनेक लोगोंकी दृष्टिमें समस्त नियमित कार्य कला है। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलाप भी कला हैं। मानवीय आदर्श भी कला ही है। अनेक विद्वान् सभ्यता और संस्कृतिके आनन्द-जनकरूपको कला और साहित्य मानते हैं। एक विचार यह भी है कि मानव सभ्यता और आदर्श जब कलाकार द्वारा वर्ण, ध्वनि आदिका रूप धारण कर हृदयकी तृप्तिका साधन बन जाते हैं तब वे कलाकी श्रेणीमें परिगणित होते हैं। वास्तवमें ललित कला हृदयका आविष्कार है—हृदयकी वस्तु है, वह केवल कर्म-कौशल और सृष्टि नहीं है। कला-विज्ञानका एक आचार्य इस सम्बन्धमें लिखता है कि "कला मानव-हृदयके उद्‌गारोंका स्थूल रूप है। मनुष्यके रसात्मक भाव जब अत्यन्त परिपक्व हो जाते हैं तब वे कलाके रूपमें प्रकट होते हैं। जगतके समस्त द्रव्यपदार्थ, वस्तु और तत्त्व जो हृदयसे सम्बन्ध रखते हैं हृदय हृदयसे उत्पन्न हैं और हृदयको प्रसन्न करनेवाले हैं। एक मात्र हृदय ही जिनका उद्‌गम-स्थान है वे सब कलाके ही रूप हैं। हमारे तीर्थ, मन्दिर, आदर्श पुरुष और तत्त्वोंके चित्र, मूर्तियाँ संगीत और काव्य सब कला ही हैं, क्योंकि ये सब मानव-हृदयकी देन हैं। बालक और बालिकाओंके घरौंदे और गुड़ियाँ भी कला हैं। प्रत्येक मानवीय बनाव कलाका ही रूप है।

कला और प्रकृति—कला और प्रकृतिका आपसमें क्या सम्बन्ध है? कला प्रकृतिका एक मात्र अनुकरण है या इसका

स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ? ये बातें मत-भेद से खाली नहीं हैं। परन्तु यह मत भेद अब पुराना हो चला है। अधिकांश समालोचकों और कला मर्मज्ञोंका यही विचार है कि कला स्वतन्त्र वस्तु है, इसका व्यक्तित्व है, विज्ञान है, गति है और जीवन है। तात्पर्य यह कि सब कुछ है। कला मानव बुद्धि का सौंदर्यमय फल है, हृदय और आत्मा का विकास है। प्रकृति अनन्त सौंदर्य-मय है, अनन्त विज्ञानका घर, नित्य और पूर्ण है परन्तु उसका सौंदर्य कला सौंदर्यकी तुलनामें नहीं ठहर सकता क्योंकि कला मानव हृदयकी वस्तु है कला सौंदर्यपूर्ण है और आत्माकी समीपवर्तिनी वस्तु है। वह सौंदर्य-मय आदर्शोंकी जननी है। आधुनिक पौर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यतावादी भी अब इस बातमें विश्वास करने लगे हैं कि ललित कला पुरुष-संस्पृष्ट होनेके कारण प्रकृतिसे अधिक सुन्दर, सरस, कोमल और हृदयग्राही है। अनेक पौर्वात्य विद्वान् कलामें सत्य, शिव और सौंदर्यका अनुभव करते हैं और पाश्चात्य विद्वान भी इसकी आध्यात्मिकता स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि वे अब कहने लगे हैं कि—The beauty of art is higher than the beauty of nature. वे यह भी कहते हैं कि All real art is the disimprisoned soul of fact. अर्थात् प्राकृतिक सौंदर्यसे कला-सौंदर्य श्रेष्ठ है और समस्त वास्तविक कलाएँ कारागार-मुक्त आत्माके तुल्य हैं। महाशय फ्रेडरिक कहते हैं—Art is illimitable अर्थात् कला अपरिमेय और अनन्त है। इसीलिए इसमें अनन्त और अपरिमेय पुरुषका सा आनन्द और

सौंदर्य है। इसी विचार-परम्पराका यह परिणाम है कि कुछ आधुनिक विद्वान् अब कला-निर्माता, शिल्पीको कला और उसके आलम्बन (Object) से अधिक ऊँचा मानते हैं। फिर भी कि कलाके नैतिक तथा निर्दोष सर्व भोग्य गुणोंको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। कला सौंदर्यके सम्बन्धमें एक विचार यह है कि सौंदर्य सत्य-शिव सम्पन्न है और कला-सौंदर्य भी सत्यात्मक तथा शिवात्मक है। यही नहीं अनेक विद्वानोंके मतसे वह परमात्म-रूप आत्माका सामीप्य है। इस दृष्टिसे सत्य शिव और कला एक ही वस्तु हैं। भौतिक विज्ञान-समर्थित अंधी प्रकृतिका सौंदर्य इसकी तुलनामें कदापि नहीं ठहर सकता। भौतिक विज्ञानके दृष्टिकोणसे कला सौन्दर्यमें एक विशेषता यह भी है कि चेतन-सत्ताका कार्य है और उसीका भोग्य पदार्थ है, इसलिए इसमें आध्यात्मिक एकत्व की विशेषता और अद्वैतभावका दिग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त अनन्तका शान्त रूप ही तो सौन्दर्य है और वह कला गम्य है। इसी दृष्टिसे अर्जुनने भगवान कृष्णसे कहा था कि भगवन् मुझे अपना मानव रूप ही दिखाइये। वेवरने अपने दर्शनशास्त्रके इतिहास में लिखा है—Art religion and revelation are one and the same thing, superior even to Philosophy. Philosophy conceives Cod; art is God. सारांश यह है कि कला, धर्म और ईश्वरीय प्रकाश एक ही वस्तु हैं और कला दर्शन शास्त्रसे भी उच्चतर है। यह इसलिए कि दर्शन ईश्वरकी केवल कल्पना करता है परन्तु कला स्वयं ईश्वर है।

इन सब विचारोंके अतिरिक्त एक विचार यह भी है कि "रूप रेखा और शब्दकी अपेक्षा गतिमें सौंदर्य अधिक है। गतिकी अपेक्षा चेतनतामें और चेतनताकी अपेक्षा चेतनास्पद परमात्मामें सौंदर्य अधिक है। इस दृष्टिसे ललित-कला उस चेतनात्मक पुण्य-स्वरूप परमात्माका ही दिग्दर्शन है। इसलिए इसमें जो कुछ है वह उसीका प्रकाश है। उसके सन्मुख प्राकृतिक सौन्दर्य कोई वस्तु नहीं। अनेक लोगोंका यह भी विचार है कि जिन पदार्थोंका जीवन के साथ सम्बन्ध है वे सब सुन्दर हैं। इस दृष्टिसे कला जीवन-व्यापिनी वस्तु है, इसकी उपयोगिता है और इसमें सामाजिक भाव-भावना है। इसीलिए इसके सौन्दर्यका महत्त्व सर्वाधिक है। मानसिक और नैतिक विचारसे भी यह आवश्यक वस्तु है। इसके प्रदर्शन, निरीक्षण और परीक्षणमें संयम है, आनन्द है और है चरित्र सौन्दर्य। इसीलिए कला जीवन और सौन्दर्य है। हाँ, प्रकृति सौन्दर्यकी अनन्त खान हो सकती है, यदि हम उसे ईश्वरीय-भावना की दृष्टिसे देखें।

कला-सौन्दर्यकी आपेक्षिक विशेषता—कलाका सौन्दर्य उसके उपकरणोंकी सूक्ष्मता और उपादानों पर अवलम्बित है। जिस कलाके उपकरण और उपादान कारण जितने ही अधिक सूक्ष्म होंगे उसका आनन्द और लालित्य भी उतना ही अधिक होगा। उपकरण और उपादान जितने स्थूल होंगे आनन्द और लालित्य भी उतना ही कम होगा।

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और काव्यकलाके

उत्पादक उपकरण क्रमशः सूक्ष्म हैं, इसलिए इनका आनन्द और सौन्दर्य भी क्रमशः अधिक है। काव्य-कलाके उपकरण सर्वाधिक सूक्ष्म हैं, इसलिए उसका सौन्दर्य भी सर्व-श्रेष्ठ और सर्वाधिक है। फिर कलाकारके हस्त कौशल, संस्कृति और व्यक्तित्व पर भी कला का आनन्द निर्भर रहता है। साथ ही द्रष्टाके दृष्टि-कोण, कला सम्बन्धी उसकी योग्यता और शिक्षा-दीक्षासे भी कला सौन्दर्यका बहुत कुछ सम्बन्ध है। उपयोगिताकी विशेषतासे भी कलाका आनन्द बढ़ जाता है। कलाकी उपयोगिता, सूक्ष्मता, कलाकारका व्यक्तित्व, द्रष्टाकी योग्यता और उसका उच्चादर्श ये सब मिलकर कलाको बहुत ऊँचा उठा देते हैं। किसी कलामें एक या एकसे अधिक सूक्ष्म-कलाओंका समावेश होने पर उसका सौन्दर्य और भी अधिक हो जाता है। चित्र, संगीत और काव्यकला, तीनों कलाएँ सम्मिलित होकर अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न कर देती हैं। गीति-काव्यमें प्रायः इन तीनोंका सम्मिलन हो जाता है। यदि एकाधिक कलाओंमें कहीं उपजीव्य उपजीवक भाव भी हुआ तो फिर आनन्दो-दधि उमड़ आता है। श्रीमानोंके मन्दिर और महल प्रायः ऐसे ही स्थान हैं। परन्तु कलाओंके सच्चे स्थान धार्मिक मन्दिर ही हैं, क्योंकि उनमें कलाका सर्व भोग्य गुण विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कलाके सापेक्ष आलम्बन, उपभोग, व्यक्तित्व और आश्रय भी कला-सौन्दर्यको लोकोत्तर परमानन्दकी वस्तु बना देते हैं।

कला और धर्म—ललित कलाका एक मात्र धर्म सौंदर्यानुभूति है। दूसरे शब्दोंमें दर्शक और श्रोताके हृदयको

कलाकारके हृदयसे मिला देना ही कलाकी सार्थकता है। इसमें कलाकारकी अनुभूतिको कलाके द्वारा समझनेवाले हृदयकी भी आवश्यकता है और साथ ही समझने योग्य सद्वस्तुकी भी। वास्तवमें कलाका धर्म दो हृदयोंका सम्मिलन कराना है। कला मूर्त्त या अमूर्त्त पदार्थोंके द्वारा उदात्त-भाव भावनाओंकी प्रेरणा, सृष्टि या अभिभावना है। कलाकार जिस विश्व-भावनात्मक प्रकृति का अनुभव करता है, दूसरोंको भी अपनी कलाके द्वारा वह वैसा ही दिखा देता है। यही उसके शिल्पका शिल्पत्व और कलाका कलात्व है। यदि किसी कलाकारके शिल्पमें इस तरहके गुण नहीं हैं तो वह सच्चा कलाकार नहीं। कला-धर्मकी उत्पादकताके लिए शिल्पकारका हृदय भाव प्रधान होना चाहिए। यदि उसका हृदय भाव प्रधान नहीं है, उसमें भावोंका श्रोत नहीं बहता, तो वह भावोद्दीपन नहीं कर सकता और न विश्व-भावनासे किसी सहृदयके हृदयको प्रभावित ही कर सकता है। मौलाना हसरत मोहानीने ठीक कहा है—

शेर दर असलमें है वही हसरत,
सुनते ही दिलमें जो उतर आवे।

टेलीफोन, फोनोग्राफ, वायरलेस और रेडियोफोन आदि भी वस्तुतः कलाशिल्प हैं, परन्तु इससे भी बढ़कर चित्र चरित्र-युक्त सजीव विश्व-भावना तथा कलाकारके सच्चे सन्देश और नियन्त्रण हैं।

कला और आदर्श—अनेक विद्वान् कलाका आदर्श केवल आनन्दोपभोग ही समझते हैं, परन्तु आज से बहुत पहले

ग्रीक-निवासी इसे सौंदर्यकी वस्तु मानते थे, और उनकी दृष्टिमें इसका उपभोग केवल सौंदर्योपासना था। उस समय कलाके आदर्शका समाजवाद और उपयोगितावादके साथ कोई गहरा सम्बन्ध नहीं समझा जाता था किन्तु बादमें कलाके आदर्शमें तीन गुणोंका समावेश हो गया। हिन्दी साहित्य-सेवी भी कलाका आदर्श सत्य शिव और सुन्दर मानते हैं और इनकी कलाका यह आदर्श अब सर्वमान्य हो चला है। फिर भी अभी अनेक सम्प्रदाय ऐसे हैं जो इस आदर्शको स्वीकार नहीं करते। वे अब भी ग्रीक ही का आदर्श अपने सामने रखते हैं। प्राचीनकालमें संस्कृत साहित्यज्ञ कलाका आदर्श रसानुभूति समझते थे। उन्होंने काव्यकलाका आदर्श रसानुभूति ही माना है। परन्तु वे इसके सामाजिक नैतिक और राजनीतिक उपयोगके मर्मको भी अच्छी तरह जानते थे। यही कारण है कि संस्कृतमें प्रायः इन सब विषयोंके काव्य-ग्रन्थ मिलते हैं। हमारी दृष्टिमें कलाका आदर्श विभिन्न दृष्टिकोणोंके अनुसार अनेक प्रकारका हो सकता है, परन्तु सत्य-शिव और सौंदर्यमें इन सबका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे समावेश हो जाता है।

कला-सौंदर्यके उत्पादक कारण—ललित कला हृदय की वस्तु है, हृदयका ही आविष्कार है। इसका जन्मदाता हृदय ही है। इसके विरुद्ध कृषि आदि, कलाओंकी उत्पत्तिका कारण आवश्यकता है। अनेक लोगोंके मतसे मनुष्य की स्वाभाविक रूप स्पृहा कला-सौन्दर्यकी जन्म-दात्री है। इसके विपरीत कुछ विद्वान् इच्छा-शक्तिको ही इसकी उत्पत्तिका कारण मानते हैं। कुछ विचारशीलों

की सम्मतिमें आँख और कान कला-सौन्दर्यके बोधक हैं। अनेक लोग विभिन्न रुचिको ही कला सौन्दर्यकी जननी मानते हैं। आध्यात्मिक पंडित परमात्माकी व्यापक सत्ताको ही कला-सौन्दर्य को उत्पत्तिका कारण समझते हैं। कुछ लोग आत्माको ही इसका कारण मानते हैं। अनेक योरपीय विद्वानोंके मतसे ज्ञाता और ज्ञेय ही इसके उत्पादक कारण हैं। कुछ विद्वान् स्थपति, भास्कर और चित्र विद्याके सौन्दर्यकी उत्पत्तिका कारण नेत्रेन्द्रिय, संगीत सौन्दर्य का कारण श्रवणेन्द्रिय और काव्य सौन्दर्यका कारण कल्पनाको समझते हैं। शोपनहार जगतके सब तरहके सौन्दर्यका कारण इच्छा शक्तिको ही बताता है। हीगल वस्तुके संगठनको ही कला-सौन्दर्यका उत्पादक कारण मानते हैं और मानसिक आनन्दको उसकी प्रतिध्वनि। डाक्टर Gully के मतसे कला सौन्दर्यके उत्पादक कारण दो हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इन्हें स्वर और रंग-रूप भी कह सकते हैं।

कला और देश-काल—कला पर कला सम्प्रदाय और कलाकारके व्यक्तित्वकी मुहर तो रहती ही है, देश-काल और परिस्थितिका भी प्रभाव पड़ता है। ललित कला समय और देशकी आँख प्रतिबिम्ब, ध्वनि और दर्पण है। वह समाजके हृदयङ्गत भावोंकी व्यञ्जक है। समाजकी रुचि, मनोवृत्ति, नीति, रीति, उत्थान-पतन आदि सब हम कलामें ही देख और पढ़ सकते हैं। कलामें हमें समाजकी सभ्यता, संस्कृति और उसकी बारीकसे बारीक विचार-रेखाएँ देखनेको मिलती हैं। कलासे पुरावृत्त जाननेमें

भी बड़ी सहायता मिलती है। अनेक लोगोंके मतसे कला वास्तवमें सुरक्षित जीवित पुरावृत्त है।

कला और उपयोगिता—कलाके द्वारा हम समाजकी कोमल मनोवृत्तियोंको अपनाते हैं। उसके सौन्दर्यसे हमारे हृदयको बल मिलता है और शान्ति भी। कला एक विश्व-कोश है, पुस्तक-माला है, इसमें हम कलाकार और समाजके मनोभावोंको पढ़ते हैं। कला विश्व प्रकृति और प्रकृति-पतिके रहस्यको समझनेका कोमल और सौन्दर्य पूर्ण माध्यम है। इसके द्वारा मनोविज्ञान, प्रकृति-विज्ञान और सौन्दर्य विज्ञानका हम अच्छी तरह पाठ पढ़ सकते हैं। काव्य-कला प्रकृति पुरुषके न्यायोचित गुणोंका स्रोत है, संगीत उसकी अन्तर्ध्वनि है, चित्र उसका मन-माना चित्रण है, मूर्तिकला उसकी प्रतीकोपासना है और वास्तु कला पूजाका घर है। एक आर्य कलाकार और कला-सेवीकी दृष्टिमें कला-आराधन उसी परम पुरुष की पूजा-अर्चा और साधना है।

कला-सौन्दर्यका विश्लेषण—कला-सौन्दर्यका आश्रय कलाकारकी वस्तु साधना है। इसका उपादान कलाकारका कर्म-कौशल, उचित गति-विधि और क्रियात्मकता है। समस्त ललित कलाओंके सौन्दर्य वर्धक तत्त्व यही हैं। कलामें कलाकारके हृदय और मनस्तत्वका सौन्दर्य भी सम्मिलित होता है। साथ ही प्रकृति, सर्व व्यापी आत्म तत्व और जीवन-सौन्दर्यका भी समावेश रहता है। कलाकार, कला और वस्तुगत सौन्दर्यके साथ-साथ उसमें हृदयका व्यक्तित्व, उसकी परिष्कृत सौन्दर्याभिरुचि, सभ्यता और

संस्कृति भी सम्मिलित करता है। परन्तु प्रत्येक ललितकलाका सौन्दर्य स्थूल कलाकी अपेक्षा सूक्ष्म कलामें अधिक होता है। इसका कारण कलाकी सूक्ष्मता और मनस्तत्व तथा आत्माकी समीपता है। काव्य-कलाका सौन्दर्य अन्य कलाओंकी अपेक्षा अधिक है क्योंकि इसमें कलाकारके व्यक्तिगत सौन्दर्यके साथ-साथ अन्यान्य ललित कलाओंका सौन्दर्य भी सम्मिलित रहता है। वास्तवमें वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत कलाएँ काव्यमें भी रहती हैं। इन कलाओंमें मिलनेवाली सरसता, माधुर्य-प्रकाश, संगठन, रूप-रेखा, कल्पना, ध्वनि आदि सब कविके काव्यमें प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सजीवता, गति, विन्यास, विज्ञान, दर्शन और धर्म आदि उसके अत्यधिक सत्संगी हैं। निर्माण, आलम्बन-उद्दीपन और सरसताकी दृष्टिसे कला साक्षात् सरस्वती हैं। इसमें इन सबके आनन्द मिश्रित होते हैं। यह क्षण मात्रमें शब्द और रूपके द्वारा विश्वकी सौन्दर्य-राशि को हमारे हृदयोंमें भर देती हैं।

कलाकी परख

आजकल हिन्दी-साहित्यके अनेक आलोचक नाना प्रकारकी भिन्न भिन्न कसौटियोंमें कसकर कलाको परख करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। एकका मत दूसरेसे नहीं मिलता। अपनी-अपनी डफली लेकर सभी *अपना-अपना राग बजा रहे हैं। ऐसी धाँधलीमें* आलोचकोंका निश्चित मत मालूम करनेमें कठिनाई जान पड़ती है। फिर भी यह प्रसन्नताकी बात है कि लोगोंकी रुचि साहित्यालोचन की तरफ झुक गयी है।

अलङ्कार-शास्त्रको लेकर आजकल हिन्दी-साहित्यमें जैसी धूम मची हुई है उससे यही मालूम पड़ता है कि हमारे साहित्यालोचक कलाका मूल लक्ष्य मनोविनोद ही समझते हैं। अलङ्कार शास्त्रको *इन लोगोंने कलाका वेद ही समझ लिया है। इन लोगोंकी* रायमें अलङ्कार-शास्त्रसे काव्यकी सृष्टि होती है न कि कवितासे अलङ्कार-शास्त्र की। कविता जाय चूल्हेमें पर अलङ्कार-शास्त्रकी "मर्यादा-रक्षा" करनी ही चाहिये। मानो कविता स्वयम् आनन्दसे उद्भूत सृष्टि नहीं है, वह दर्शनकी तरह "पण्डिताईकी" सामग्री है। जब वे लोग रामायण अथवा महाभारतके समान विपुल काव्योंको पढ़ने बैठते हैं तब भी उसमें अलङ्कारकी खोजमें लग जाते हैं! उनसे पूछिये कि उक्त दो महाकाव्य क्यों विश्वमान्य हैं? वे तुरन्त उत्तर देंगे, क्योंकि वे अलङ्कारोंकी खानि, नव रसोंके सागर हैं।

परमाणुवादीको "पीलवः पीलवः" की पुकारकी तरह उन्हें भी सर्वत्र अलङ्कारकी ही धुन लगी रहती है। अमुक दोहा या श्लोकमें यमक तथा अनुप्रासकी भरमार है, अमुकमें अपन्हुति अलङ्कार है, अमुकमें विरोधाभास है, अमुकमें अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकारकी "आलोचना"के आधार पर आजकल हमारे साहित्यमें कविता पर विचार होता है। इस बातका एक उदाहरण यहाँ पर हम देते हैं जिससे हमारा कथन कुछ स्पष्ट हो जायेगा। पूज्यपाद मिश्र बन्धुओंने अपने 'नवरत्न' में गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानससे निम्न लिखित पंक्तियाँ उद्धृतकी हैं—

जे पुर गांऊँ बसहिं मग माहीं, तिनहिं नागसुर-नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाये, धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ-जहँ राम चरन चलि जाहीं, तेहि समान अमरावति नाहीं।
परसि राम-पद पद्म परागा, मानति भूरि-भूमि निज भागा॥

इन चौपाइयोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त बन्धुगण लिखते हैं, "इनमें जितना साहित्यका सार कूट-कूटकर भरा है, उतना शायद संसार-सागर (?) की किसी भी भाषाके, किसी पद्यमें, कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगोंने कविता देखी या सुनी है, इन पंक्तियोंका सा स्वाद क्या अँगरेजी, क्या फारसी, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या संस्कृत किसी भी भाषामें कहीं नहीं पाया जायगा।" माननीय बन्धुगण विद्वान् तथा कला मर्मज्ञ हैं। अतः उन्हें ऊपर उद्धृतकी गयी पंक्तियोंमें कलाका आनन्द प्राप्त हुआ है, यह स्वाभाविक ही है। पर ऐसे रसज्ञ होने पर भी उन लोगोंने इस

अपूर्व रसानन्दका जो कारण दिया है वह हमारी समझमें नहीं आया। इन लोगोंने गोस्वामीजीकी इन चौपाइयोंके पद-पदमें नाना प्रकारके "अलङ्कार" खोज निकाले हैं और उन अलङ्कारोंके अस्तित्व के कारण ही इन चौपाइयोंमें साहित्यका अपूर्व स्वाद पाया है, जैसे गोस्वामीजीने इन "अलङ्कारों" को प्रदर्शित करनेके लिए ही अभिनव भक्तिरसकी अविरल धारासे अभिषिक्त इन अनन्य सुन्दर चौपाइयोंको लिखा हो ! पूजनीय मिश्र बन्धुओंके प्रति हमारी असीम श्रद्धा है। हमें अफसोस सिर्फ इसी बातका है कि उनके समान कला-मर्मज्ञ भी जब 'अलङ्कार' की कसौटीसे गोस्वामीजी की अतुलनीय कविताको कसने लगे तो औरोंकी क्या गति है ! ऊपर उद्धृत की गयी चौपाइयोंमें तुलसीदासने इतना उभय भाव भरा है कि विश्वकी समस्त आत्माएँ जानकर या अनजान में उसके प्रति आकर्षित होकर निरन्तर उसीकी ओर धावित हो रही हैं। जिस कवितामें कविकी अत्यन्त प्रसारित आत्माका अन्तस्तल ध्वनित हो उठा है, उसके बालकी खाल निकालकर, समस्त रस निचोड़कर शुष्क महत्वहीन अलङ्कारोंकी खोजकर डालनेसे उसका कुछ भी महत्व नहीं बढ़ता। कविताकी धारा जब निर्झरके समान अविरल गतिसे तीव्र वेगके साथ निम्नगा होकर बहने लगती है तब उसके दोनों किनारोंमें उसके जलवेगसे मनोहर अलङ्कार रूपी पुष्प बीच-बीचमें फूट निकलते हैं। पर उन पुष्पोंको खिलानेके लिये वह नहीं बहती। उन पुष्पोंके कारण उसकी शोभा पर विचार करना महा मूर्खता है। उसकी शोभा उसकी अविरल गतिमें है और

अनन्त रूपी महासागरमें मिलकर एक प्राण होना ही उसका लक्ष्य है, इसी कारणसे उसका आवेग लक्षित होता है।

अलङ्कार-शास्त्रकी दुहाई देनेवाले विज्ञ आलोचकगण यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य ही करेंगे कि यदि अलङ्कारका महत्त्व इतना थोड़ा है त्रौ संस्कृतमें साहित्यदर्पण, कुवलयानन्दकारिका, भट्टिकाव्य आदि ग्रन्थ अनावश्यक ही क्यों रचे गये? इसका उत्तर हम यह देंगे कि संस्कृत-साहित्यके अवनतिमूलक (Decadent) युगमें कविताका लक्ष्य केवल विशुद्ध विनोद ही समझा जाने लगा था। उस समयके कवि यह बात भूल गये थे कि कविताका सुर अनन्तकी वेदनाको बजाता है, महफिलकी गत नहीं। महफिलमें बैठे हुए 'इश्कके खरीदारों', 'नाज बरदारों' तथा शाही दरबारके मुसाहिबों की वाहवाहीके प्रत्याशी इन कवियोंको साहित्यिक चोचलोंसे ही काम लेना पड़ता था। अमरुक, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्द्धन, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियोंकी कविताका यही हाल है। साहित्य-दर्पण आदि अलंकारिक ग्रन्थ इसी अवनतिमूलक युगमें रचे गये थे।

कालिदासके युगमें तथा उसके पूर्वकालमें अलङ्कारके सामान्य नियम अवश्य ही प्रतिष्ठित थे पर उनकी "मर्यादा" की रक्षा पर कवियोंका विशेष ध्यान नहीं था। सभी जानते हैं हमारे साहित्यमें बहुत पहलेसे ही यह नियम मान्य था कि किसी साहित्य ग्रन्थकी समाप्ति दुखप्रद घटनामें नहीं होनी चाहिये। "मधुरेण समापयेत्"— मधुर रससे समाप्त करे, यह प्रवादवाक्य बहुत पुराना है, तथापि रामायणके महाकविने अपने काव्यकी अनन्त गतिका अनुभव

करके हम तुच्छ नियमकी अवहेलना की। यह बात सभी स्वीकार करेंगे कि रामायणकी कथा दुःखान्त है। सीता-विसर्जनकी परिणति सीताके पाताल-प्रवेशमें होती है। सीताने सुखसे पुलकित होकर पाताल-प्रवेश नहीं किया था। महाजटिल तथा विभीषिकापूर्ण दुःखका भार जब इन्हें असह्य हो उठा तब वे कातर कण्ठसे अनन्य गति होकर बोल उठीं, "तदामे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।" यह पाताल प्रवेश एक प्रकारसे आत्महत्याका उन्नत स्वरूप है। अन्तर इतना ही है कि आत्महत्या भूतका समस्त बन्धन छिन्नकर देती है और पाताल प्रवेश भूतको अनन्त भविष्यके साथ सम्मिलित करता है। इसी भूत और भविष्यके संयोगकी सूचनाके कारण पाताल प्रवेशका इतना महत्व है। जो कुछ भी हो हमारा तात्पर्य यही है कि रामायण का अन्त सुखकर नहीं है। रघुवंश में कालिदास ने अग्निवर्ण की चरम दुर्गति दिखलाकर इस काव्य की समाप्ति भी दुःख में की है। अलंकार शास्त्र की नियम-रक्षा का यदि विचार किया जाय तो उन्होंने सुदर्शन का चरित्र वर्णित करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया होता। अग्निवर्ण तक वंश-वर्णन को लेजाकर फिर उसमें भी उस भोग विलास मत्त रघुवंशी के जीवन की दुर्गतिपूर्ण तथा महा करुण ट्रेजेडी चित्र के रूप में अङ्कित करके कवि ने यही बतलाया है कि वह एक महा पराक्रमी वंश के प्रभात, मध्याह्न तथा सन्ध्या का क्रमिक विकास दिखलाना चाहता है और इस विकास के चित्रांकन में अलंकार-शास्त्र के किसी कृत्रिम नियम की रुकावट वह नहीं मान सकता।

एक ज़माना कालिदास के जीवन में ऐसा भी था जब इन्होंने अलंकार-शास्त्र की नियम रक्षा के लिए अपनी प्रथम रचना "ऋतु-संहार" में ऋतुओं की गति के नियम की भी अवहेलना करके ग्रीष्म से ऋतुओं का आरम्भ मानकर मधुऋतु वसन्त के वर्णन में "मधुरेण समापयेन्" की उक्ति के अनुसार काव्य को समाप्त किया था। पर पीछे अपनी प्रतिभाकी अजस्रताके सामने इस प्रकार के कृत्रिम नियमों को तुच्छ समझा।×

ऊपर की बातों से हमारा तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ कवि अपनी कविताकी अनन्त गतिमें सभी प्रचलित लीकोंको बहा ले जाता है। तुलसीदास ने दर्प के साथ लिखा था—

कवित्त—विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास की इस उक्ति को कई लोग विनय वाणी कहते हैं। विनय का प्रकाश इसमें अवश्य है पर इसके भीतर रूसोंके Confession की तरह एक प्रकार का प्रच्छन्न गर्व भरा है। और यह गर्व अत्यन्त उन्नत तथा उचित है। "कवितविवेक" से उनका

× विद्वान जर्मन प्रोफ़ेसर डा० हिलेब्रांत (Hillebrandt) ने रघुवंश के नवे सर्ग में यमकों की भरमार देखकर लिखा है कि इन यमकों के प्रयोग का विशेष कारण होना चाहिये। क्योंकि कालिदास ने कविता के कृत्रिम अलङ्कारों का आदर नहीं किया और सदा ललित भावों का अनुकरण किया है। विक्रमोर्वशी का चौथा अंक अपवाद है जो उनका लिखा नहीं मालूम होता। Kalidasa von A, Hillebrandt Kapital Kalidas als Kunstdichter S. 10 f.

तात्पर्य अलङ्कारादि का विवेक ही है। उनके जमानेमें इन अलङ्कारों का निदर्शन ही कविता का चरम लक्ष्य समझा जाता था। पर "आखर अर्थ अलंकृति नाना" तथा "भाव भेद रसभेद अपारा" के सम्बन्ध में कुछ भी न जानने पर भी उनको पूरा विश्वास था कि उनकी कविता में "विश्व-विदित गुन एक" है। इस गुण के सामने अलङ्कार-शास्त्र के रसभेद तथा भावभेद नगण्य हैं। भक्ति-रस की अविरल धारा में "पंडित" लोग "अलङ्कार" के चमकीले पत्थरों के टुकड़ों को खोजकर निकालने में भले ही लगे रहें, इससे उस धारा का महत्त्व कुछ घटता-बढ़ता नहीं। कविता के लौकिक नियमों का पालन न करके अन्तःकरण की प्रेरणा से तुलसीदास ने महाकाव्य रचा था। इसीलिए समस्त संसार में उसका स्थान इतना ऊँचा है।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के अधिकांश कवियों ने अन्तः-करण की प्रेरणा से नहीं वरन् भट्टिकाव्य की तरह अलङ्कारों के निदर्शन के लिए ही कविता की थी। भट्टिकाव्य में तब भी गाम्भीर्य पाया जाता है। परन्तु हिन्दी के इन कवियों की कविता में साहि-त्यिक चोचलों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इन कवियों में से कुछ ने तो ऐसे ग्रन्थ भी रचे हैं जिनमें अलंकारों का ब्योरा है। नायक-नायिकाओं के भेद में कितना ही रहस्य भरा हो और कितनी ही "नाजुकखयाली" क्यों न हो, परन्तु उसके चोचले या तो मध्ययुग के राजा-रईसों की महफिल में ही वक्त काट देने के कारण प्रशंसित हो सकते थे या आजकल के मुशायरों में ही शोभित हो

सकते हैं। कविता पाण्डिताई की चीज नहीं है, उसका आनन्द अनुभव ही किया जा सकता है, अलंकारों के निदर्शन से बतलाया नहीं जा सकता। "ज्यों गूंगा गुड़ खाय के कहै कौन मुख स्वाद?" जिस कविता का आनन्द अनुभव करने के लिए अलंकार शास्त्रों को आवश्यकता होती है वह कविता, हमारी राय में, कविता नहीं है। निस्सन्देह कविताके भावकी व्याख्या करना समालोचकका काम है, पर अलंकारों के आधार पर नहीं, पाठकों के हृदय की अनुभूति की कल्पना द्वारा। कारण यह है कि कविता का आनन्द किसी बाह्य नियम के ऊपर निर्भर नहीं है। वह प्रत्येक मनुष्य की आभ्यन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित है। जब हम किसी सुन्दरी रमणी के गम्भीर मर्मस्पर्शी रूप पर विचार करते हैं तब क्या उसका निरूपण कभी इस बात से किया जा सकता है कि उसके हाथोंमें तथा पैरोंमें कितने अलंकार हैं? उसके स्निग्ध हृदयकी जो सुमधुर छाया उसके कपालमें, आँखोंमें, भौंहोंमें तथा अधरोंमें व्याप्त रहती है उसका अनुभव हमारा अन्तस्तल करता है, इसी कारण हम उसके रूप पर मुग्ध होते हैं।

आज हमारे देशमें जिस प्रकार परम्परामे प्रचलित नियमोंकी दुहाई देनेवाले अन्धसंस्काराच्छन्न लोगोंको यह विश्वास दिलाना कठिन होगया है कि जाति-पांति, खान-पान, छुआ छूत, पर्दा आदि बातोंका सदियोंसे प्रचलित झगड़ा जाति तथा राष्ट्रकी उन्नतिके लिये अत्यन्त बाधक है, उसे त्यागनेमें ही भलाई है। उसी प्रकार पुरानी लीक पर चलनेवाले हमारे दिग्गज पंडितों तथा कलाविदोंको

व्याकुलतासे' पागल होकर भारतवर्षके प्राचीन कला मर्मज्ञ आनन्दके कारण बहलने लगे थे, जिस महात्माकी 'स्वर्ग तथा मर्त्य' 'विद्या तथा अविद्या' अल्प तथा भूमा, प्रेय तथा श्रेयकी अपूर्व अभिनव तथा अनिर्वचनीय मिश्रित वाणीसे मत्त होकर विश्व कवि ग्येटे अपनेको धन्य समझने लगा था, जिस योगीकी कविताकी अजस्र गतिसे अनन्तका रस पाकर आधुनिक महाकवि रवीन्द्रनाथ पुलकित हैं, उसकी काव्यकलाको खण्ड खण्ड रूपसे विभक्त करके हमारे साहित्यालोचक उसमें केवल 'उपमा', 'शृंगार' तथा 'अश्लीलता' ही देख पाते हैं।

विलायतके कुछ पेशेदार समालोचकोंने साहित्य-क्षेत्रको नक़द कारबारका हाट समझकर कविताका उद्देश्य तात्कालिक सुख (Immediate Pleasure) प्रदान करना बतलाया है। इन पेशेदारोंका मत इधर कुछ साहित्यालोचकोंने हिन्दीमें भी प्रचरित करनेकी चेष्टा की है। इसी आदर्श पर विचार करके उन लोगोंने कबीरकी कविताको कविता ही नहीं माना है। यह बात सभी जानते हैं कि कबीरने कोई विशेष काव्य ग्रंथ नहीं रचा। उनके नामसे जितने पद्य आज प्रचलित हैं उनमेंसे सभी पद्योंमें अवश्य ही कविता नहीं पायी जाती। कारण यह है कि कबीरने शिक्षा तथा उपदेश भी पद्यमें प्रदान किये थे और तत्कालीन धर्माडम्बर तथा कुरीतियोंकी आलोचना भी पद्यमें की थी। परन्तु जब उन्होंने स्वान्त:सुखाय विशुद्ध कविताकी वाणी नि:सारित की थी तब उस कविताका जोड़ मिलना कठिन था। उस अन्तर्मुखी कविताके

रूपक-रसमें हम "तात्कालिक सुख" नहीं पाते। "तात्कालिक सुख" अनुभूत होते ही फूलकी तरह मुरझा जाता है। इस कविता में समुद्रके गाम्भीर्यकी तरह स्थायित्वका भाव पाया जाता है। श्रेष्ठ शिल्पियोंका उद्देश्य यही स्थायित्वका भाव नाना रसों द्वारा प्रतिष्ठित करना रहा है।

मानवात्मा विरह तथा विषादके वशीभूत होकर अन्तःप्रकृति की नाना जटिलताओंके कारण अनेक दुःख तथा पीड़न सह करती हुई अनन्तकी वेदनाके साथ अपनी वेदनाको एकीभूत करने के लिए निरन्तर व्याकुल रहती है। इस वेदनाका सुर ध्वनित करने के लिए वह कलाकी सृष्टि करती है। इतने कठोर दुःख तथा निर्यातनके अनन्तर वह कविताका आनन्द पूर्ण रस ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। कलाको भाँड़ोंके चोचलोंमें शुमार करने वाले कवि तथा साहित्यालोचक इतनी कठिनता, दुःख तथा तपस्या से प्राप्त इस रसकी क्या कद्र कर सकते हैं।

पर अब जमाना बदल रहा है। हिन्दी-साहित्यके अन्धकारमय गगनमें प्रकाशका किञ्चित् आभास दिखलायी देने लगा है। निरवधि-कालकी विपुलताके सामने हिन्दीका वर्तमान युग नगण्य है। इसलिए हमें वर्तमानको भेदकर भविष्यकी उस स्थिति पर अन्तर्दृष्टि डालनी होगी जब कलाकी विश्वजनीनता (Uinversality) का ख्याल करते हुए हमारे साहित्यिक कलाके सभी स्वरूपोंको उदारताके साथ दोनों हाथोंसे अपनायेंगे और कलाकी महत्तापर दृष्टि रखकर अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी तुच्छ वाद-विवादों

में व्यस्त न रहेंगे। उसी दिनकी आशा पर हमारा साहित्यिक गौरव निर्भर है। आजकलके साहित्यिक पण्डों तथा ठेकेदारोंकी संकीर्णता तथा हठाकारिता पर नहीं।

कलाका वर्गीकरण

हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलामें आदर्शकी सत्ता पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि पहली दशामें आदर्शकी सत्ता भी सिद्ध की जाती है, परन्तु जब हम कलाके वर्गीकरणकी ओर ध्यान देते हैं, तथा उसका वर्गीकरण करने लगते हैं, तब हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलाका आदर्श होता है, और वह आदर्श भिन्न-भिन्न कलाओंमें भिन्न भिन्न साधनोंकी सहायतासे प्रकट किया जा सकता है। इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कलाकी सुंदरताका आदर्श है या नहीं। भिन्न-भिन्न कलाओंमें भी उन्हीं सब बातोंका अस्तित्व पाया जाता है, जिनका कलामें। प्रत्येक कलाके आधारोंमें कुछ-न-कुछ एकता और विशेषता होती है, और इन विशेषताओंके कारण इन कलाओंका रूप भी भिन्न भिन्न हो जाता है। प्रत्येक कला सुंदरताकी सृष्टि करती है, और उसकी मूर्ति खड़ी करती है। यही सुंदरता सत्यको प्रकाशित करती, और कलाकी सहायतासे सत्य ही को मनुष्यके भावों और विचारोंके सामने रखती है।

परन्तु विशेष रूप धारण कर लेनेके कारण, जितने प्रश्न कला के सम्बन्धमें उत्पन्न हो सकते हैं, वे सब-के सब प्रत्येक कलाके सम्बन्धमें नहीं उठ सकते। इसका उदाहरण देना अनुचित न होगा। कुछ लोगोंका कहना है कि कलासे मनुष्योंको मोक्ष मिल

सकता है। कुछ लोग कहते हैं, कला व्यर्थ और निरर्थक है। कुछ लोग कहते हैं, कला असत्य और काल्पनिक है। परन्तु दूसरे लोग कहते हैं, कला वास्तवमें सत्य है, कलासे ज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है, और इससे कल्याण भी हो सकता है। ये सब बातें कलाके सम्बन्धमें कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत बातें कलाके सम्बन्धमें कही जाती हैं। परन्तु ये सब बातें भिन्न-भिन्न सब कलाओंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकतीं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किन किन विशेष कलाओंमें किन-किन बातोंमें समानता होती है, और किन-किन बातोंमें विषमता। इस प्रश्न का उत्तर भी कलाके वर्गीकरणके पहले नहीं दिया जा सकता। वास्तवमें कलाओंका वर्गीकरण एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण, परन्तु कठिन प्रश्न है, क्यों इनकी संख्या भी निश्चित नहीं है। कोई कलाको तीन भागोंमें विभाजित करते हैं, कोई पाँच और कोई छः तथा कोई इसे और भी अधिक भागोंमें विभाजित करते हैं। कुछ लोग नृत्यको भी कला समझते हैं, परन्तु कुछ लोग इसकी गणना कलामें नहीं करते। भारतमें प्राचीन कालमें नृत्यकी गणना कलामें की जाती थी। महादेवजीका ताण्डव-नृत्य भारतमें अच्छी तरह प्रसिद्ध है।

कलाके वर्गीकरणके पहले उन आधारों तथा सिद्धान्तोंको निश्चित कर लेना चाहिए, जिनके अनुसार वर्गीकरण करना हो। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों तथा आधारोंके माननेसे भिन्न भिन्न वर्गीकरण उत्पन्न हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न लेखकोंने वर्गीकरणके भिन्न-

भिन्न आधार माने हैं। यहाँ पर हीगलके वर्गीकरणका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाता है। पहले हीगलने कलाको निम्न-लिखित तीन भागोंमें बाँटा है—

(1) Symbolic Art,

(2) Classical Art और

(3) Romantic Art.

इसके बाद हीगल प्रत्येककी विशेषताओंका उल्लेख करता है। अंतमें कहता है कि प्रथम भागमें वास्तु-कला, दूसरेमें मूर्ति-कला और तीसरेमें चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य कला हैं। इसके बाद हीगल वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कलाका निम्न-लिखित संक्षिप्त परिचय देता है—

वास्तु-कला—कलाओंके वर्गीकरणमें पहले वास्तु-कला (शिल्प कलाका) नाम लिया जा सकता है। यह ललित-कलाका वह भेद है, जिसमें बाहरी जड़ प्रकृतिकी सहायतासे कलाकी सृष्टि की जाती है। वास्तवमें वास्तु कलामें आधार स्थूल पदार्थ (matter) होता है। जैसे लोहा, पत्थर, लकड़ी और ईंट आदि। इन सब वस्तुओंमें बोझ होता और इन बोझोंको यंत्र-सम्बन्धी (mechanical) नियमोंका पालन करना पड़ता है। वास्तु-कलामें जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है, अर्थात् जिन आधारोंसे वास्तु-कला की सृष्टि होती है, उनके आकार भी जड़ पदार्थोंके समान ही होते हैं, परन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध किसी विशेष आवश्यकताकी पूर्ति करते हैं, अर्थात् उनके अवयवोंमें संगति रहती है, और वे

सौष्ठव, यथा प्रमाणता तथा सुंदरतासे सदा युक्त रहते हैं। वास्तु-कलाके आकार-प्रकार तथा आधारसे कलाका वास्तविक आदर्श भली-भाँति हृदयंगम नहीं कराया जा सकता। इसमें केवल मूल-वस्तुका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। इसीलिये इसमें बाहरी बातों तथा भीतरी विचारोंका केवल सम्बन्ध-मात्र दिखलाया जा सकता है। इसीलिये इसे कुछ लोग लाक्षणिक कला कहते हैं।

परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि वास्तु-कला ईश्वर (God) का अनुभव करनेकी पर्याप्त सामग्री एकत्रित कर देती है, और इस अंशमें यह पथ दर्शकका काम करती है। यह संसार बहुत विस्तृत है, और प्रकृतिमें असंख्य पदार्थ मौजूद हैं। इस विश्वमें तथा इस विशाल प्रकृतिमें कोई भाग्यवश ईश्वरकी ओर आकर्षित होता है। इसलिये वास्तु-कला इस सम्बन्धमें वास्तवमें प्रशंसनीय काम करती है, क्योंकि यह ईश्वरके लिये एक प्रकारके विशेष स्थान की सृष्टि करती है, और बाह्यप्रकृतिकी सहायतासे एक आकार-प्रकारकी सृष्टि करती है, ईश्वरका मन्दिर-निर्माण करती है, जहाँ पर आदमी लोग एकत्रित होकर ईश्वरका ध्यान कर सकते हैं। वास्तु-कला वास्तवमें ध्यान करनेवाले मनुष्योंकी सृष्टिको अन्य सारी वस्तुओंसे पृथक् कर देती है, और उनकी तूफान, वर्षा तथा जानवरों आदिसे केवल रक्षा ही नहीं करती, किंतु उनके मनमें वहाँ एकत्रित होनेकी प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर देती है। इसलिये यदि

है, तो वह आकार-प्रकार

भावोंको उत्पन्न कर सकता है,

और यदि इस कलामें पूर्ण न होगा, तो वह गहरे भावोंको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। पूर्ण कलाविद् अच्छा प्रभाव डाल सकता है, और अपनी सृष्टि को अमर कर सकता है। इस प्रकार, वास्तु कला, आकार-प्रकार तथा साधनोंकी सहायतासे कलाकी पर्याप्त सत्ताकी सृष्टि कर सकती है। परन्तु इसके आगे वह नहीं जा सकती; क्योंकि वास्तु कला आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर केवल संकेत कर सकती है।

मूर्ति-कला—वास्तु-कला बाहरी प्रकृतिमें किसी विशेष स्थानको पृथक् करती है, आधारोंकी सहायतासे विशाल भवनमें क्रम उत्पन्न करती है, उस स्थानको पवित्र कर देवी तथा समाजके लिये ईश्वरका मन्दिर बना देती है। इसके बाद मूर्तिकारका कार्य प्रारम्भ होता है। वह उस विशाल मन्दिरमें परमेश्वरको व्यक्तिके रूपमें रखता है। मूर्तिकारके साधनोंमें भी उस व्यक्तित्वकी छाप पाई जाती है। जिस आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर वास्तु-कला संकेत करती है, उसीको मूर्ति-कला प्रकाशित करती है। वास्तवमें मूर्ति कलामें आभ्यन्तरिक आत्मा और बाहरी साधनोंमें समानता रहती है, और इनमेंसे कोई एक प्रधान नहीं होने पाता। मूर्ति-कलामें जितनी बातें दिखलाई जाती हैं, वे सब-की-सब इन्द्रिय-गम्य होती हैं। इसमें जितनी बातें शारीरिक रूपसे प्रकट की जाती हैं, उनका आध्यात्मिक (Spiritual) रूप भी अवश्य ही रहता है, और जितनी बातें आध्यात्मिक होती हैं, वे शारीरिक रूपके द्वारा भी अवश्य प्रकट की जा सकती हैं। कुशल मूर्तिकार इस

लोगोंके सामने ऐसी मूर्तियोंको रक्खेगा, जिसकी आत्मा और शरीर में पर्याप्त सामञ्जस्य होगा, और मूर्तिके देखनेसे ही उसकी आत्माका ठीक-ठीक पता चल जायगा। इसलिये मूर्ति-कलामें जड़ पदार्थोंके यांत्रिक नियमसे ही काम नहीं चल सकता, और न इसमें जड़-पदार्थोंके केवल आकार प्रकारसे ही काम चल सकता है। और, यह रंगोंसे भी उदासीन नहीं रह सकता। कुशल मूर्तिकार आभ्यन्तरिक आत्माको पूर्ण तथा शाश्वत और नित्य विश्रामके रूपमें प्रकाशित करता है। वह इस बातका भी प्रयत्न करता है कि आकार-प्रकार भी उसी नित्य विश्रामके सर्वथा अनुकूल हो।

चित्र-कला—जिस प्रकार वास्तु कलाके बाद मूर्ति-कला है, उसी प्रकारसे मूर्ति-कलाके बाद चित्र कला नहीं है; क्योंकि इसमें आदर्शका व्यक्तीकरण अच्छी तरहसे होता है। चित्र-कलामें आधार भी वास्तु-कला तथा मूर्ति-कलाकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होता है। वास्तु-कला और मूर्ति-कलाकी सृष्टि देश (Space) में होती है; परन्तु चित्र-कलाके लिये केवल धरातल ही पर्याप्त होता है। इसीलिये चित्रकारको वास्तु-कलाविद् तथा मूर्ति कलाविद्की अपेक्षा अधिक कौशलकी आवश्यकता पड़ती है। उसके साधनोंमें रंग (Colour) का स्थान बहुत ऊँचा है। चित्रकारको एक चित्रपट, ब्रुश और रंगकी आवश्यकता प्रायः पड़ा करती है; परन्तु मानसिक सृष्टिको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये, उसके वास्ते रंग बहुत ही अधिक आवश्यक है। किसी घटनाको सजीव बनानेके लिये रंगकी जितनी आवश्यकता है, उतनी और किसी

चीजकी नहीं। जिस प्रकार वास्तु कला तथा मूर्ति कला आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार चित्र-कला भी दृष्टिकी सहायतासे ही आत्माको संतुष्ट करती है। परन्तु चित्र-कलामें दृष्टि तथा आँखकी विशेष-रूपसे आवश्यकता पड़ती है। दृष्टि चित्र-कलामें जिस आदर्शकी सृष्टि करती है, वास्तु-कला और मूर्ति कलामें उसका अस्तित्व नहीं पाया जाता।

इन सब भेदोंके अतिरिक्त इनके विषय (Content) में भी बड़ा अंतर है। अपेक्षाकृत चित्र-कलाका विषय वास्तु कला और मूर्ति-कलासे बहुत ही अधिक विस्तृत होता है। मनुष्यके हृदयमें जितने भाव, विचार तथा कल्पनाएँ उठ सकती हैं चित्र-कलामें वे सब-की सब दिखलाई जा सकती हैं,। मनुष्य जितने प्रकारके काम कर सकता है, वे सब के-सब चित्र-कलाकी सहायतासे प्रकाशित किए जा सकते हैं। इसके द्वारा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथा स्थूल-से स्थूल पदार्थ चित्रित किए जा सकते हैं। इस प्रकृतिके सब दृश्य भी चित्रकी सहायतासे भली-भाँति दिखलाए जा सकते हैं।

संगीत-कला—चित्र कलाके बाद हम संगीत-कलाको ले सकते हैं। इसका आधार भी इन्द्रिय-गम्य ही है; परन्तु इसका अधिक सम्बन्ध नादसे है। संगीत-कलाका संबंध अपेक्षाकृत भीतरी आत्मासे है। इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं कि हम अपने मानसिक भावोंको नादकी सहायतासे प्रकट करते हैं। संगीतका प्रभाव बहुत व्यापक, विस्तृत तथा रोचक होता है। संगीतकी तरह काव्य-कलाका आधार भी नाद है। इसीलिये इनमें बड़ा घनिष्ट

सम्बन्ध है। संगीत-कलामें भी ऐरिक आदर्श रहता है, और इसमें देश (Space) एक बिंदु पर निश्चित करनेका प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकारसे चित्र-कला और वास्तु-कलाके मध्यमें मूर्ति-कला है, इसी प्रकार चित्र कला और काव्य-कलाके बीचमें संगीत कला है। चित्र-कलामें देशका चित्रण किया जाता है, और काव्य-कलामें सूक्ष्म आत्माका। संगीत-कलामें इन दोनोंका कुछ कुछ अंश लिया जाता है। संगीत-कलामें स्वरोंके नियमोंका भी पालन करना पड़ता है।

काव्य-कला—काव्य-कलाका स्थान सब कलाओंमें सबसे ऊँचा माना जाता है। चित्र-कला और संगीत-कलामें भी मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव काव्य-कलामें और भी अधिक हो जाता है। काव्य कलामें केवल नाद ही आधार रहता है। इसका आधार शाब्दिक संकेत है। प्रत्येक नाद भावों अथवा विचारोंके द्योतक हैं। इसलिये इन नादोंसे शब्द बन जाते हैं जो काव्य-कलाका आधार है और जो भावों अथवा विचारोंको प्रकट करता है। संगीत-कला जिस आदर्शकी ओर संकेत करती है और जिसे कार्य-रूपमें परिणत करनेका प्रयत्न करती है, वह काव्य-कला में प्राप्त हो जाता है। काव्य-कलामें कल्पनाका स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें संदेह नहीं कि सब कलाओंमें कल्पनाकी आवश्यकता होती है। इस अंशमें काव्य-कला और सब कलाओंके समान ही है। परंतु काव्य-कलाकी कल्पना स्वतन्त्र होती है। इसलिये यह इस कलामें एक विशेष रूप धारण कर लेती है जिसका अस्तित्व

अन्य कलाओंमें नहीं पाया जाता। कविता, मस्तिष्ककी सार्वदेशिक तथा व्यापक कला है और वह अपने क्षेत्रमें स्वतन्त्र है। इसमें बाहरी बातोंकी उतनी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इसमें भीतरी विचार और भाव तथा इन्द्रियोंसे ही काम चल जाता है। जब कविता ऊँची होती है, तो वह बहुत श्रेष्ठ हो जाती है और कल्पना के क्षेत्रसे विचारके मैदानमें भी पहुँच जाती है।

का पैमाना अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता है। जब हम कहते हैं कि ब्रह्मके अनुभवके समान ही कलाविद्का भी अनुभव होता है, तब किसी लाक्षणिक भाषाका प्रयोग नहीं करते, किन्तु इसे अक्षरशः सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक बड़े पैमाने पर है और दूसरा छोटे पैमाने पर, परन्तु सृष्टि करनेका सिद्धांत दोनोंमें एक ही है।"

टकवेलके इस कथनसे स्पष्ट है कि वह कलाविद्को एक बहुत ही ऊँचा स्थान देता है, और उसके अनुभव की, ब्रह्म—स्वयं परमेश्वर—के अनुभवसे तुलना करता है।

एक दूसरा प्रसिद्ध अँगरेज लेखक कहता है—"Truth like Art is an end in itself." इसका भावार्थ यह है—"कलाकी तरह सत्य भी परिणाम है, साधन नहीं।" इस कथनसे भी कलाकी महत्ता प्रकट होती है।

कलाके सम्बन्धमें भारतीय विद्वानोंने भी अपने मत प्रकट किए हैं। उपनिषद्में एक स्थान पर लिखा है—"ब्रह्म ही पूर्ण कलाविद् है, और यह विराट सृष्टि उसकी कला है।" इस प्रकार स्वयं उपनिषद्के लेखकने भी स्वयं परमेश्वरके लिये 'कलाविद्' शब्दका प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वेदांत-दर्शनमें एक स्थान पर लिखा है—"ब्रह्म एक विराट और प्राचीन कवि है, और यह सारा विश्व उसकी कविता है, जो छन्दों, पदों और लयों तथा आनन्दके रूपमें प्रकट होती है।" इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में भी कला तथा कलाविदोंकी प्रशंसा अनेक स्थलों पर की गई है।

स्वयं भर्तृहरिने कलाके सम्बन्धमें यों लिखा है—

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः ;
तृण न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।

इस श्लोकमें महात्मा भर्तृहरिने साहित्य और संगीत-कलासे रहित मनुष्यको पूँछ-रहित साक्षात् पशु माना है। इस अवसर पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा भर्तृहरि कोई साधारण आदमी नहीं थे। उन्होंने अपने विस्तृत राज्यको छोड़ दिया था, और प्रेमके राज्यसे निराश होकर वैराग्य धारण कर लिया था। महात्मा भर्तृहरिने सांसारिक सब व्यसनोंको छोड़ दिया था, और अपनी स्त्रीको भी छोड़ दिया था, जैसा कि निम्न-लिखित श्लोकसे प्रकट है—

"यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोन्यसक्तः ;
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।

जब महात्मा भर्तृहरिके समान त्यागी पुरुषने कलाकी इतनी प्रशंसा की है, तब अवश्य ही इसमें कोई असाधारण बात होगी; क्योंकि साधारण बातोंकी वह इतनी प्रशंसा कदापि न करते।

कलाकी प्रशंसामें और भी अनेक विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं; परन्तु यहाँ पर इतना ही पर्याप्त होगा।

आजकल हिन्दीमें भी कलाका बाजार गर्म है, और जिसे देखो, वही कला पर एक लेख लिख मारता है, अथवा कलाके संबन्धमें अपना स्वतंत्र मत प्रकट कर डालता है। कोई-कोई लेखक तो इस सम्बन्धमें बहुत ही अधिक साहसका काम करते हैं, और कलाके सम्बन्धमें ऐसे विचार प्रकट करते हैं, जिनसे उनके खोखले ज्ञान तथा अपरिपक्व बुद्धिका पता चल जाता है।

कोई 'कला कलाके लिये' शब्दका प्रयोग करता है, परन्तु इसका वास्तवमें क्या अभिप्राय है, कुछ भी नहीं समझता। इसका एक प्रधान कारण यह है कि हिन्दीमें ऐसी पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है, जिनमें कलाका वर्णन हो। यदि सच कहा जाय, तो संसार-भरकी प्रत्येक भाषामें ऐसे ग्रंथोंका अभाव है। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य भाषाओंमें भी कला-सम्बन्धी पुस्तकें हैं ही नहीं, किन्तु केवल यह कि प्रत्येक भाषामें ऐसी पुस्तकोंकी संख्या बहुत कम है। बहुत लोग साहित्य-कला तथा संगीत कलाको ही कला समझने लगते हैं, परन्तु यह एक भारी भूल है। कुछ लोग कला और कौशलके अंतरको भी अच्छी तरहसे नहीं समझते, और कलाको ही कौशल समझ बैठते हैं। परन्तु यह भी एक भयंकर भूल है, क्योंकि कला (Art) और कौशल (Craftmanship) में बड़ा अंतर है। वास्तवमें कलाका विषय ही कठिन है, और उसके समझनेके लिये कई प्रसिद्ध ग्रंथोंका पढ़ना अत्यंत ही अधिक आवश्यक है। हीगल कलाकी इस कठिनाईसे भली भाँति परिचित था। इसीलिये उसने लिखा है कि हम लोग

कलाको उस समय तक अच्छी तरह नहीं समझ सकते, जब तक यह न समझ लें कि दर्शन-शास्त्र कलाके सम्बन्धमें क्या कहता है, और उसकी क्या परिभाषा बतलाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हम हीगलके इस कथनसे सहमत नहीं हो सकते, तथापि उसके कथनसे यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि कलाका समझना वास्तवमें बड़ा कठिन है। इसलिये यदि हिन्दीवाले इस सम्बन्धमें कुछ ग़लती करते हों, तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं।

❀ ❀ ❀ ❀

यहाँ पर ऐसी ऐसी ग़लतियोंका एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। हिन्दीमें एक प्रसिद्ध ग्रंथमें कलाकी निम्न-लिखित परिभाषा दी गई है—

कलाका विवेचन—"प्राकृतिक सृष्टिमें जो कुछ देखा जाता है, किसी-न किसी रूपमें वह सभी उपयोगमें आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं, जिसमें उपादेयताका गुण वर्तमान न हो। यह संभव है कि बहुत-सी वस्तुओंके गुणोंको हम अभी तक न जान सके हों; पर ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणोंको अधिकाधिक जानने जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थोंमें उपयोगिताके अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उसका सौंदर्य है। फल फूलों, पशु पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभीमें हम किसी न किसी प्रकारका सौंदर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि संसारमें अनुपयोगिता और कुरूपताका

अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एकके अस्तित्वसे ही दूसरेका अस्तित्व प्रकट होता है। एकके बिना दूसरे गुणका भाव ही मनमें उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्यकी सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृतिमें उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती हैं।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थोंमें भी हम उपयोगिता और सुंदरता पाते हैं। एक झोपड़ीको लीजिए। वह शीतसे, आतपसे, वृष्टिसे तथा वायुसे हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ीके बनानेमें हम बुद्धि-बलसे अपने हाथका अधिक कौशल दिखानेमें समर्थ होते हैं, तो वही झोपड़ी सुन्दरताका गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिताके साथ-ही-साथ उसमें सुंदरता भी आ जाती है। जिस गुण या कौशलके कारण किसी वस्तुमें उपयोगिता और सुंदरता आती है, उसकी "कला" संज्ञा है। कलाके दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कलामें बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदिके व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कलाके अंतर्गत वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओंके द्वारा मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है, और दूसरी अर्थात् ललित कलाओंके द्वारा उसके अलौकिक आनन्दकी सिद्धि
... उन्नति और विकासके द्योतक हैं। मे

इतना ही है कि एकका सम्बन्ध मनुष्यकी शारीरिक और आर्थिक उन्नतिसे है, और दूसरीका उसके मानसिक विकाससे।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो। परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओंको यथाशक्ति सुन्दर बनानेका उद्योग करता है। अतएव बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं, जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी; अर्थात् वे दोनो श्रेणियोंके अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होनेमें सन्देह नहीं।"

थोड़ा भी ध्यान देकर पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि उक्त कलाकी परिभाषा कितनी दूषित तथा संसारके पदार्थोंका वर्गीकरण कितना अपूर्ण है। इसमें लेखकने मान लिया है कि संसारके सब पदार्थोंमें उपयोगिता और सुंदरता-नामक दो गुण पाए जाते हैं। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ससारके सब पदार्थोंमें इन दोनों गुणोंके अतिरिक्त और कोई गुण नहीं पाया जाता? क्या संसारकी सब वस्तुओंके गुणोंकी इन्हींमें इतिश्री हो जाती है? यह बात निस्संकोच रूपसे कही जा सकती है कि सृष्टिमे इन दोनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंकी भी सत्ता पाई जाती है। उदाहरण के लिये हम विशालता, सत्यता तथा कल्याणमयता आदि गुणोंको भी ले सकते हैं; क्योंकि इनका अस्तित्व भी अवश्य ही इस संसार में पाया जाता है। इसलिये लेखकका उक्त वर्गीकरण सर्वथा अपूर्ण तथा असंगत है। इसके अनन्तर लेखकने कलाकी परिभाषा भी दी

है, और उसमें उन्होंने गुण अथवा कौशलको ही कला मान लिया है। परन्तु वास्तवमें यह एक भारी भूल है; क्योंकि कला और कौशलमें बड़ा अंतर है। लेखकने कलाके वर्गीकरणमें भी भारी भूल की है, क्योंकि उपयोगी कला और ललित कला, ये दोनों कलाके भेद नहीं हैं। अँगरेजीमें भी कला (Art) का कई अर्थोंमें प्रयोग होता है, और कभी-कभी अँगरेजी-लेखक भी कलाका प्रयोग गलती से एक ही अर्थमें करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'उपयोगी कला' (Useful Art) और 'ललित कला' (Fine Art) का प्रयोग किया जाता है, परन्तु ऐसा करनेका अभिप्राय केवल यही होता है कि ललित कलाका मुख्य उद्देश्य उपयोगिता नहीं है। इतना ही नहीं, ये दोनों भिन्न भिन्न चीजें हैं, और ललित कलामें उपयोगिताका कुछ भी विचार नहीं किया जाता। इसी भेदके प्रकट करनेके लिये ही इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। कलाको दूसरी वस्तुओंसे पृथक् करनेके विचारसे ही ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। जैसे जब हम 'विज्ञान' और 'कला'-शब्दका प्रयोग करते हैं, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि ये दोनों ज्ञान तथा विद्याके पृथक् पृथक् विभाग हैं, विज्ञानमें सोचनेकी और कलामें अभ्यासकी अधिक आवश्यकता होती है। इन भेदोंके अतिरिक्त भी और कई भेद किए जा सकते हैं। जैसे यदि हम किसी कामके बनानेमें इस बातका अधिक ध्यान रक्खें कि किन-किन वस्तुओंके बनानेसे हम लोगोंका कल्याण होगा, किन-किनसे हमें सत्यका ज्ञान होगा, और कौन-कौन-सी चीजें हमें सुन्दर (ललित) लगेंगी, तो

इस विचारसे हमें कल्याण-कला, सत्य-कला और सुंदर (ललित) कला, इस प्रकारसे वर्गीकरण करना पड़ेगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थोंमें हम कलाका प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु हमें प्रत्येक दशामें यह स्मरण रखना चाहिए कि कलाका प्रयोग किस अर्थमें किया गया है।

• • • •

इस सम्बन्धमें अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कला' किसे कहते हैं, और इसका वर्गीकरण किस प्रकार करना चाहिए।

इस सम्बन्धमें इँगलैंडका प्रधान कवि शेली कहता है कि कल्पनाका व्यक्त करना ही कला है। परन्तु शेलीकी यह परिभाषा भी दोषसे खाली नहीं है; क्योंकि केवल कल्पना ही कलाके लिये पर्याप्त नहीं है। कल्पना तो मनुष्यके जीवनका एक अंश-मात्र है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पनाका व्यक्त करना भी कला है; परन्तु इतना ही कलाका सब कुछ नहीं है। पार्कर कहता है* कि इच्छाका काल्पनिक व्यक्तीकरण ही कला है, परन्तु कलाके लिये केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं। इच्छा तो मनुष्यकी चेतनता तथा उसके अनुभव एक अंश-मात्र है। इसके अतिरिक्त पार्कर काल्पनिक व्यक्तीकरणको कला मान लेता है, जो सर्वथा अनुचित है। चाहे जिस पदार्थका व्यक्तीकरण क्यों न हो, यदि वह काल्पनिक-मात्र है, तो उसकी कला-संज्ञा नहीं हो सकती। लॉर्ड बायरनने भी एक स्थान पर कलाके संबंधमें अपना विचार यों प्रकट किया है—

* 'Analysis of Art' by W. H. Parkar.

"मस्तिष्कका सृष्टि-सम्बन्धी प्रयत्न ही कला है।" थोड़ा विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि कलाकी यह परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि इस परिभाषाके अनुसार तो संसारका पागल भी कलाविद् हो जायगा। कलामें व्यक्तीकरणका होना भी आवश्यक है, और केवल मस्तिष्ककी सृष्टि ही पर्याप्त नहीं है। यदि कलाविदोंने अपने मस्तिष्ककी सृष्टिको व्यक्त न किया होता, तो वे आज कभी कलाविद् नहीं कहला सकते थे। यदि क्लाडियनने रोलैण्ड नामक महाकाव्यको व्यक्त नहीं किया होता, और केवल अपने मस्तिष्कमें ही सृष्टि करके छोड़ दिया होता, तो आज उसे कौन कलाविद् कहता। यदि वर्जिलने अनीडको, स्पेंसरने फेयरी क्वीनको, मिल्टनने पैराडाइज लास्टको, माइकल मधुसूदनदत्तने मेघनाद-वधको, और गोस्वामीजीने रामायण नामक काव्यको व्यक्त न किया होता, और उन्हें मस्तिष्ककी सृष्टिके रूप ही में छोड़ दिया होता, तो उन्हें आज कौन कलाविद् कहता। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि लॉर्ड बायरनकी कलाकी यह परिभाषा ठीक नहीं है। एक दूसरा प्रसिद्ध अँगरेज लेखक लिखता है* कि सुन्दरताका व्यक्त करना ही कला है। परन्तु यह भी कलाकी ठीक परिभाषा नहीं है; क्योंकि कलाका उद्देश्य सुंदरता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कलामें भी सुंदरता पाई जाती है; परन्तु सुंदरता कलाका चिह्न-मात्र है, उसका उद्देश्य नहीं। इस प्रकार प्रकट है कि यह परिभाषा भी दोष-रहित नहीं।

---

* 'Relation in Art' by Vermon Blake.'

हीगेल कहता है* कि मनुष्यकी क्रियाकी सृष्टि ही कला है। परन्तु हीगेलकी यह परिभाषा भी ठीक नहीं; क्योंकि मनुष्यकी सब क्रियाओंकी सृष्टि कला नहीं कही जा सकती।

जिस प्रकार संसार-भरके तथा प्रत्येक भाषाओंके विद्वानोंने साहित्यकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं, उसी प्रकार लोगोंने कला की भी परिभाषा दी है, और कलाके सम्बन्धमें अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। इन सब परिभाषाओंमें कलाकी निम्न-लिखित व्याख्या अधिक अच्छी तथा न्याय-संगत मालूम पड़ती है—"सरस-अनुभव (Aesthetic experience) का व्यक्त करना ही कला है।" ध्यान देकर देखनेसे पता चलेगा कि ऊपरकी कलाकी लगभग सब परिभाषाएँ इस परिभाषासे निकाली जा सकी हैं, अथवा उसमें सम्मिलित हैं। यह परिभाषा उक्त अधिक परिभाषाओंसे अधिक व्यापक और हीगेल की परिभाषासे कम व्यापक है। इसके अतिरिक्त इसमें एक और विशेषता है, जो अन्य परिभाषाओंमें नहीं है। इस परिभाषामें सरस और अनुभव, दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है, और दोनों ही कलाके लिये अत्यन्त ही अधिक आवश्यक हैं। इस परिभाषासे यह भी प्रकट है कि कलाके समझनेके लिये सौंदर्य-शास्त्र (Aesthetics) को भी समझना चाहिए। इन दोनोंमें इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बहुत लोग कला और सौन्दर्य-शास्त्रको एक ही समझते हैं; परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं कि सौन्दर्य-शास्त्र और कलामें कुछ संबंध

* Hegel's Philosophy of Art.

भी है, परन्तु इसमें कुछ संदेह नहीं कि इन दोनोंमें अन्तर भी है। कोई मनुष्य बिना कलाकी सहायतासे भी सारे सौन्दर्य शास्त्रका अध्ययन कर सकता है; परन्तु सौन्दर्य-शास्त्रकी सहायताके बिना कोई भी मनुष्य कलाका अध्ययन नहीं कर सकता। सुंदरता कलाका चिह्न और सौन्दर्य-शास्त्रका विषय है। इस कथनसे स्पष्ट है कि कला और सौन्दर्य-शास्त्र, इन दोनोंमें सम्बन्ध है, परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि दोनों एक हैं। वास्तवमें कलाका जन्म अनुभवसे होता है। बिना अनुभवके, चाहे वह वास्तविक हो अथवा काल्पनिक, कलाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सब अनुभव भी कलाको नहीं उत्पन्न कर सकते। यह अनुभव भी एक विशेष प्रकारका होता है, जिसे सरस-अनुभव (Aesthetic experience) कहते हैं। यही सरस अनुभूति कलाकी जननी है। इसके बिना कलाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसमें संदेह नहीं कि कला के लिये सरस-अनुभवका होना आवश्यक है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक मनुष्य अपने सरस-अनुभवसे कलाकी सृष्टि कर सकता है। वास्तवमें जो मनुष्य अपने इस सरस-अनुभवको व्यक्त कर सकता है, वही कलाविद् कहा जा सकता है; क्योंकि सरस-अनुभवोंका व्यक्त करना ही कला है।

* * * *

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सरस-अनुभव किसे कहते हैं? जिस अनुभवमें सत्य तथा कल्याणका विचार न हो, जिस अनुभवमें बुद्धिसे विचार न किया जाय, जो अनुभव सहज-सुखद

हो, जिस अनुभवमें स्वयं सहज ज्ञान (Intuition) ही पर्याप्त हो, जो अनुभव अनुभवके लिये हो, उसे सरस अनुभव कहते हैं। यही सरस-अनुभूति (अनुभव) कलाकी जननी है। यहाँ पर इसके दो-एक उदाहरण देना अच्छा होगा। रेखागणितमें ऐसे कई अभ्यास हैं, जिन्हें मैं दस प्रकारसे सिद्ध कर सकता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब-के-सब ठीक हैं, और इनमें कोई अशुद्ध नहीं है। तथापि उनमेंसे एक प्रकारको मैं सबसे अच्छा समझता हूँ, और वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। यही सरस अनुभव है। इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि रेखागणितके दसो साधन ठीक हैं, और रेखा गणितके हिसाबसे सबका महत्त्व समान ही है, क्योंकि सब ठीक हैं, और इनमेंसे किसी भी एकको लिखनेसे पूरा पूरा नंबर मिल जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि इस संबन्धमें बुराई-भलाईका कोई प्रश्न नहीं उठता, और यह प्रश्न भी नहीं उठता कि इन दसोंमेंसे किसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इन सबोंको ठीक स्वीकार करना ही पड़ेगा। तथापि इन दसोंमें से मैं किसी एकको अधिक पसंद करता हूँ, और कहता हूँ कि यह सब साधनों से अच्छा है। इस निर्णय पर पहुँचनेके लिये हमें न तो बुद्धिकी सहायता लेनी पड़ती है, न दिमागको ही खरोचना पड़ता है, और न आकाश पातालको ही एक करना पड़ता है। इस निर्णय पर पहुँचनेके लिये केवल मेरा सहज ज्ञान ही पर्याप्त होता है। इसलिये इसे हम सरस-अनुभव कहते हैं। सरस अनुभव वास्तवमें स्वाभाविक रूपसे सुखद भी होता है। इसीलिये बर्नार्ड शॉने अपने

व्याख्यानमें कहा था—" Aesthetic experience is a pleasant feeling " अर्थात् "सुखद अनुभवको ही सरस-अनुभव कह सकते हैं।"

इसी सरस-अनुभवको गोस्वामी तुलसीदासजीने "स्वांतः सुखायके" नामसे प्रकट किया है। गोस्वामीजी अपने लेखोंसे न तो किसी लाभकी आशा रखते थे और न नाम होनेकी। इन्हें तो श्रीरामचन्द्रजीके गुणगान करनेमें ही आनन्द आता था। रामायणकी रचना करना स्वयं उनके लिये पुरस्कार था, और वह दूसरा पुरस्कार नहीं चाहते थे। कविता करनेसे उन्हें शांति मिलती थी, और आनन्द प्राप्त होता था। गोस्वामीजी इस संबन्धमें बुद्धि लड़ाने नहीं जाते थे कि उन्हें इन कविताओंके करनेसे क्या लाभ होगा। स्वाभाविक रूपसे वह कविता करना पसन्द करते थे, और उनका सहज ज्ञान ही निश्चित रूपसे इसका निर्णायक था। इसलिये गोस्वामीके इस अनुभवको हम सरस अनुभव कह सकते हैं। हम यह बात निस्संकोच-भावसे कह सकते हैं कि गोस्वामीजीमें कलाकी जननी सरस अनुभूति अवश्य थी।

इन सब बातोंसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कलाके लिये सरस-अनुभव ही सब कुछ है। इसमें संदेह नहीं कि सरस अनुभव कलाके लिये आवश्यक है, परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं। कलाकी और कौन कौनसी आवश्यकताएँ हैं? कलाके विषय और आकार-प्रकारका क्या अभिप्राय है? सब कलाएँ क्यों इस एक ही नामसे पुकारी जाती हैं? सुंदरता, कला और सरस अनुभवमें

क्या सम्बन्ध तथा अन्तर है ? सरस-अनुभवके व्यक्त करनेके क्या-क्या साधन हैं ? कलाकी कसौटी क्या है, और किन-किन दशाओंमें हम किसी कामको कलाकी कृति कह सकते हैं ? इन सब प्रश्नों पर मैं किसी दूसरे लेखमें विचार करूँगा ।

यदि यह कहा जाय कि अमुक पुस्तकका ध्येय पुस्तक स्वयम् है तो केवल शब्दोंके उलट फेरके अतिरिक्त कुछ नहीं है। पुस्तकमें पुस्तकके विचार, भाव-प्रदर्शन छपाई आदि कितनी ही बातें हैं, जिनको जोड़कर उसका ध्येय निकाला जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसका मूल्य रुपये-पैसेमें नहीं किया जाता। इसी प्रकार और भी उदाहरण मिल सकते हैं। ध्यान देनेसे कोई भी पदार्थ ऐसा न मिलेगा जिसका मूल्य वह पदार्थ स्वयम् हो। प्रत्येकका लक्ष्य है और बाह्यस्थायित्व भी। क्योंकि बिना लक्ष्यके उसका जीवन ही असम्भव है। संसारकी कुल वस्तुएँ एक दूसरे पर इतनी निर्धारित हैं कि उनकी सम्बन्ध-शृङ्खलाकी एक भी कड़ी विलग होने पर उनका अस्तित्व ही मिट जाता है। अतएव कविताका संसारसे पृथक रहना यदि निरर्थक नहीं तो असम्भव अवश्य है।

बात बिलकुल उल्टी है। कविता भी मनुष्यको आनन्द प्रदान करती है। यदि उसके लिखने तथा पाठनमें आनन्द अनुभव न हुआ तो कविताका जन्म ही असम्भव है। किसीका भी उद्भव कारणसे होता है और जितना संतोष कारण विशेषको उस उद्भवसे होता है वही उस वस्तुका मूल्य है। वायुयान बनानेका मुख्य कारण मनुष्यके आकाश परिभ्रमणकी इच्छा है, और वह उतना ही मूल्यवान होगा जितनी सुगमतासे वह आकाश-पर्यटनमें सहायक हो। इसी प्रकार यदि कविता आनन्द-प्रसादमें विफल हुई तो उसका जीवन क्षण भरके लिए भी दूभर हो जायगा। इतना

ही नहीं, कल्पनाकी मसिसे लिखे जाने पर भी काव्यके प्रत्येक शब्द और अक्षर वास्तविक संसारके प्रतिबिम्ब ही हैं। यदि कवि कालिदास भ्रमरको डाली-डाली घूमकर मधुमास करते देखकर प्रसन्न न होते तो रानी हंसपदिकासे दुष्यन्तके प्रति उलाहना रूपमें यह कदापि न कहलाते कि—

> अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूत मञ्जरी।
> कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽसि एनां कथं॥

कितना मार्मिक भाव प्रदर्शन है! पाठक पढ़कर आनन्दसे नाच उठते हैं! यह कहना नितान्त भ्रम मूलक है कि उपर्युक्त कविने बिना सोचे-समझे केवल भावावेशमें आकर यह कह दिया है। स्वयम् इंग्लैण्डके कालिदास शेक्सपियर जिनकी प्रशंसामें डॉ० ब्राडलेने सहस्रों पंक्तियाँ लिखी हैं यदि यह समझकर कि प्रेम समयका चाकर नहीं है, आनन्दोल्लासमें न वह उठते अथवा पाठकोंको आनन्दित करनेकी इच्छा न रखते तो वह कभी भी न लिखते कि—

Love is not tune's fool,
Though rosy lips and cheeks.
Within his bending sickle's compass come.

अर्थात्—"प्रेमको समय भुलावा नहीं दे सकता। यद्यपि गुलाबी होठ व गालों पर उसके हँसियाका प्रहार होता है।" अथवा उर्दू काव्यकी प्रसिद्ध पंक्तियां कि—

> चाल है मुझ नातवांकी मुर्गे बिस्मिलकी तड़प।
> हर कदम पर है यकीं यां रह गया व्हां रह गया॥

यदि यह पंक्तियाँ कवि तथा पाठक दोनोंको पुलकित न करतीं तो उन काले अक्षरोंमें क्या धरा था? अथवा

पागल पिता बिलखता ज्वाला धधक धधकती
है मौतका तमाशा।
बेटा इधर तड़पता, बेटी इधर सिसकती
शायिन बनी निराशा॥

वाली पंक्तियाँ नितान्त करुणा भरी होने पर भी केवल आनन्द पर ही आश्रित हैं। अस्तु, यह निश्चित है कि कविताका मूल्य केवल उसकी आनन्द प्रदायिनी शक्ति है, वही उसका ध्येय है और उसीके लिए वह ग्रहणीय है।

दूसरी बात डॉ० ब्राडलेकी काव्य-स्वतन्त्रता और उसके आचार विचारकी संसारसे पृथकता है। निस्सन्देह काव्यका भी संसार है, उसके नियमादि हैं किन्तु उसकी स्वतन्त्रता उसी प्रकार की है जैसी कि भारतकी कर-नियुक्ति स्वतन्त्रता। क्योंकि कविता सौन्दर्य्यानुभवका केवल पुनर्जन्म है। अथवा प्रसिद्ध विद्वान ए० सी० बेन्सनके ओजस्वी शब्दोंमें कलाका अर्थ सच्चे और गूढ़ रूपमें यह है—

'वस्तुके कामासौनुभव-शक्ति तथा उसके आन्तरिक गुण को भली भांति समझ लेना और उसको अपने कला मस्तिष्क द्वारा प्रदर्शित करना। इस प्रसङ्गमें वह कल्पनाका प्रयोग करना है जिसके द्वारा राई-पर्वत बन जाय और अलाउद्दीनके देवोंकी भाँति रात भरमें बड़ेसे बड़ा महल तैयार हो जाय।'

यदि सौन्दर्य्याभास ही कविताका मुख्य गुण है तो तीन वस्तुओंकी सहायता अनिवार्य्य है। प्रथमतः अनुभव वस्तु दूसरा अनुभवी और तीसरे उस अनुभवसे शुद्ध मनोरञ्जन-ग्राही। इनमेंसे एककी भी अनुपस्थितिमें काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि यदि वस्तु नहीं तो अनुभव किसका? यदि अनुभवी नहीं तो अनुभव करेगा कौन? और यदि अनुभवका विवेकी नहीं, तो अनुभव किसके लिए? यह तीनों बातें काव्यको वास्तविक संसारसे, उधार माँगनी पड़ेंगी। अतएव डॉ० ब्राडलेकी काव्य स्वतन्त्रता नामको ही रह जाती है। उसे सांसारिक मनुष्यों तथा वस्तुओंसे पग-पग पर सहायता लेनी ही पड़ती है। उसका सौन्दर्य्य पात्र संसार हीमें मिलेगा. उसका सौन्दर्य्य स्वादन संसार हीमें होगा। यदि बढ़ई मेज बनानेको संसारसे काष्ठ ले और संसार हीमें बेचे तो केवल बसूला चलानेही में स्वतन्त्र होगा। ठीक यही दशा कविताकी है। यह ठीक है कि कवि अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा वस्तु विशेषका नवीन रूप कर देता है किन्तु मृत्तिका फिर भी इसी संसारकी रह जाती है। उदाहरणतः यदि कवि कोई नव-यौवनाके विशाल नेत्रों पर रीझे, तो उसको इतना बढ़ा सकता है कि जिस वस्तु तथा जीव विशेषसे तुलना करे उसीको उन्हें देखने तथा आनन्द लेनेको भेजदे, मानों वह उससे हीन है, जैसा कि 'नासिख़ने' निम्नाङ्कित शेरमें किया है:—

मैंने जब आँखोंके मजमूँका पढ़ा वहशतमें शेर।
कूए जानाको चले आहू बयाबाँ छोड़कर॥

किन्तु फिर भी मृग तथा नेत्रसे सांसारिकता ही टपकती है। वास्तवमें जिस वस्तुको कविने न देखा हो और न सुना हो, उसका ध्यान तथा प्रदर्शन उसके लिए असम्भव है। यदि कवि केवल कल्पनाके ही ईंट-गारेसे प्रासाद बनानेका प्रयत्न करे तो उसका प्रासाद केवल कल्पना हीमें दिखलायी पड़ेगा। यह सम्भव है कि कल्पनाकी तरंगमें कभी-कभी उसके पांव उखड़ जांय और वह उसी धारामें बह चले किन्तु यदि उसको डूबना नहीं है तो उसे अवश्यमेव सम्भलकर समुद्र तट पर आना ही पड़ेगा। ऐसे कवियोंमें अंग्रेजीके प्रधान कवि शैली अद्वितीय हैं। उनका विश्वास था कि कवि—

Nor seeks nor finds he mortal blisses
But feeds on the aereal kisses
Of shapes that haunt thoughts, wildernesses

अर्थात्—"कवि इहलौकिक आनन्दका न तो आतुर ही है और न उसे प्राप्त ही करता है। वह तो विचार-उद्यानमें विचरने वाली मूर्तियोंका स्वप्नवत् चुम्बन करता है और उसीसे जीता है।" किन्तु प्रेमके लिए तथा पेट भरनेके लिए उसे भी संसारकी आवश्यकता पड़ती है। चाहे खाद्यपदार्थ स्वाप्निल चुम्बन ही क्यों न हों। इसी प्रकार—

भूषण-भार सँभारि हैं कैसे तन सुकुमार।
सूधे पांइ न घर परे सोभा ही के भार॥

में 'सोभा' स्थूल वस्तु न होने पर भी कविने उसे बोझवाली बना

दिया है। किन्तु सुयौवना तथा सौन्दर्य संसारही की है। अतएव काव्य-संसारका केवल इस संसारसे ही सरोकर नहीं है, वरन् वह अपने जीवनके लिये उसका आभारी भी है।

काव्य-संसारको स्वतन्त्रता यदि सचमुच नहीं मिली तब तो यह कहना कि उसके आचार-विचार सर्वतः भिन्न हैं केवल शब्दाडम्बर है। क्योंकि यदि वस्तुको उधार लेना और उसे ब्याज सहित लौटाना आवश्यक है, तब ऋण देनेवालेका नियमोल्लंघन क्षम्य न होगा। यह निश्चित है कि कलई करने पर भी वस्तुका वस्तुत्व संसारही का है। उसका उपयोग काव्य-संसारमें नहीं वास्तविक संसारही में होगा। उस संसारका अटल नियम है—सत्यसे विमुख न होना। वर्डस्वर्थके शब्दोंमें—"कविताका ध्येय सत्य ही है—व्यक्तिगत अथवा प्रान्तिक भले ही न हो, किन्तु व्यवहारिक तथा सार्वदेशिक तो है ही।" अतएव काव्यको सत्य रूढ़ होना अनिवार्य है। किन्तु सत्यका क्षेत्र असीमित है। संसारके समस्त आचार विचार, धर्म तथा सौन्दर्य केवल इसीके परिपोषक हैं। वस्तुको सत अथवा सुन्दर केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें सत्यकी अवहेलना नहींकी गयी है। पर्सीडियर्नरने अपनी 'कलाकी आवश्यकता' (Necessity of Art) पुस्तकमें लिखा है—"हमारा विचार है, और संसारकी भाषाएँ इस बातकी साक्षी हैं कि तीनों वस्तु एक ही हैं-अच्छाई सुन्दर है, सुन्दरता शुभ है, और सत्य शुभ तथा सुन्दर है। बड़ी कठिनाईसे तीनोंमें विच्छेद किया जा सकता है। वास्तवमें यदि हमें ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास है तो यह निःसंकोच कहना पड़ेगा कि तीनों

एक ही वस्तु हैं क्योंकि तीनों एक ही सत्ताके तीनों रूप हैं।" यदि सत्य, शुभ तथा सुन्दर एक हीके तीन स्वरूप हैं तो किसी वस्तुके सौन्दर्य विवेचनमें यह देखना आवश्यक है कि उसमें सत्यकी झलक है या नहीं—शुभ है या नहीं। इसी मेलाधारके अन्तर्गत संसारके आचार विचारादि, सभी वस्तुएँ आजाती हैं। काव्य-सौन्दर्यका अस्तित्व है और सौन्दर्य सत्यका। इसलिए काव्य आचार और नीतिका उतना ही पोषक है जितना मनुष्यके अन्य व्यावहारिक कर्म हो सकते हैं। इस विचारको सम्मुख रखकर 'बिहारीके' निम्नांकित दोहेकी विवेचना करनी चाहिए—

दौर बचावत हैं उठे दौरत छुटें पेच।
पल बँधि चढ़ि अभिलाषी मनौ लोचनों हेत॥

यदि बाह्य सुन्दरता ही काव्यका लक्ष्य है तब तो भाषाकी काट-छांट, तथा छंद-गठनमें यह दोहा अद्वितीय है। किन्तु, यदि आंतरिक सौन्दर्य पर दृष्टि डाली जाय—सत्य तथा सौन्दर्यकी खोजकी जाय तो पता चलेगा कि मात्र हेय तथा मिथ्या है, ऐसी दशामें यह दोहा 'रसराज' रसका होने तथा "अनुभाव, विभावका पूर्ण प्रकाश" पाने पर भी कविता कहलाने योग्य नहीं।

रहे थे और शैली एक स्त्री छोड़कर दूसरी और दूसरी छोड़कर तीसरीको अपना रहे थे। बायरनकी तो भूख प्यास ही पर स्त्रीं-रमण थी। 'स्काटिश रिव्यू' तथा 'इडिनबरा रिव्यूके' सम्पादक इनकी कविताओं पर इसलिए टूट पड़े थे कि इन कवियोंका जीवन भयकर था, और वे समाजकी अवहेलना करते थे। कीट्सके फैनी ब्राउनके प्रति लिखे हुए पत्र खोल-खोलकर पढ़े गये, शैलीकी यूनिवर्सिटीसे निकाले जाने वाली कथा इकत्रितकी गयी और बायरनके दूषित प्रेमकी दुहाई दी गयी। फलस्वरूप बिना पढ़े ही उनके काव्य आगमें फेंक दिये गये। शैली और बायरनको आजन्म देश-निर्वासनकी सजा मिली और कीट्सको क्षय रोगकी पुकार हुई—'कला केवल कलाके लिए है।'

यह थी इंग्लैण्डकी साहित्यिक दशा। योरपके समालोचक विभिन्न पथारूढ़ थे। उनके विचारमें पुराने कवि जो मार्ग निश्चित कर गये थे उससे एक इंच भी हटना अक्षम्य था। फ्रेन्च एकेडेमीने अच्छेसे अच्छे भावुक नव युवकोंका गला इसलिये घोंट दिया कि उनके तुक और छन्द आदि होमर और दान्तेके विरुद्ध थे। ईसाई धर्मके पादरियोंका राज्य था। प्रत्येक पुस्तक इस दृष्टिसे देखी जाती थी कि कहीं इंजालके विपरीत तो भाव नहीं प्रदर्शित हुआ है अथवा कुछ विचार-स्वातन्त्र्य तो नहीं है। फ्रान्सकी क्रान्तिने जहां हर प्रकारकी स्वतन्त्रता प्रदानकी वहाँ कला पर और भी कड़ा पहरा बिठला दिया! शनैः शनैः कलाकारोंने भी स्वतन्त्रताकी हुंकारकी और फलरूप गर्जन हुआ 'कला केवल कलाके लिए।'

इस प्रकारने प्रारम्भमें बड़ा लाभ पहुँचाया। इससे विचार और भाव-प्रदर्शनको स्वतन्त्रता मिली। किन्तु, समयान्तर्गत लोग साहित्यका श्राशय भूल गये। स्वच्छन्दताने अनाचार तथा अश्लीलता तक पग बढ़ाया। तथ्यवादियोंका जन्म हुआ। खुले शब्दोंमें व्यभिचारकी गरिमा गायी गयी और सरल तथा हृदय-द्रावी साहित्यका लोप हो गया। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण कला तथा समाजको भयानक ठेस लगी।

कविताकी स्वतन्त्रताका दूसरा आशय इङ्गलैण्डके विद्वान आलोचक क्लटन ब्राक (Clulton Brock) ने समझा है। उनका कथन है कि "यदि कलावस्तु मुझे अच्छी लगती है तो इसलिए कि वह सुन्दर है, इसलिए नहीं कि वह सदाचारिणी है। वह ऐसी वस्तु है जिसका ज्ञान केवल देखनेहो से हो जाता है किसी बाह्य आचारकी आवश्यकता नहीं।" वास्तवमें कलाका लक्ष्य सौन्दर्य्य है बाह्य आचार नहीं। किन्तु सौन्दर्य्य क्या है ? सौन्दर्य्याभास कैसे होता है ? इन जटिल प्रश्नों का उत्तर ब्राक महोदयने नहीं देनेकी कृपा की। केवल दर्शकके मनोविचार पर छोड़ दिया है। कुछ लोग साफ सुथरी भाषा ही को सौन्दर्य्य कह डालते हैं, कुछ छन्द गतिको, और कुछ दोनों को छोड़कर भाव पर लट्टू हो जाते हैं। कुछ सूक्ष्म भावोंको ही अपनाते हैं, तो कुछ स्थूलको। परन्तु सौन्दर्य्यका कुछ लक्ष्य अवश्य है, उसका कुछ आदर्श अवश्य है। प्रसिद्ध मैमासिक शैफट्सबरी कहते हैं कि 'जो सुन्दर है वह सम राग युक्त तथा सुगठित है, जिसमें राग तथा उत्तम आकृति है वह सत्य है और जो सुन्दर

सथा सत्य है वह अवश्य रुचिकर है।' अस्तु, इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य तथा सदाचार आदर्श सौन्दर्य्यके आवश्यक अङ्ग हैं। हाँ किसी कलावस्तुके विवेचनमें इन बाह्य वस्तुओं पर जानकारी में ध्यान नहीं जाता, किन्तु जिस मस्तिष्क द्वारा इसकी परीक्षा होती है वह अनजानमें इन्हीं विचारोंसे रंगा पड़ा है। इसका संकेत क्लटन ब्राकने स्वयम् भी किया है। उन्हीं ओजस्वी शब्दोंमें:—

'During it (seeing a piece of art) we look neither before or after; only now exists for us, freed from all that has been or will be...... If we are to live utterly in the now, that now must be full not empty; it mnst convince us of its reality, just as heaven if it were to be heaven would need to convince off its reality'

अर्थात्—"किसी कला-पदार्थके देखनेमें हम आगे पीछे नहीं देखते; केवल वर्तमान ही उपस्थित रहता है जिससे कि भूत तथा भविष्यसे कोई नाता नहीं। ......यदि हमें केवल वर्तमानमें रहना है तो वह वर्तमान परिपूर्ण हो शून्य नहीं, उसको अपनी सच्चाईका उसी प्रकार विश्वास दिलाना पड़ेगा जिस प्रकार स्वर्गको दिलाना पड़ता है कि वह वास्तवमें स्वर्ग है।" अतएव सत्यका प्रश्न काव्य के लिए अनुपेक्षणीय है। भाव यदि सत्य हैं, भाव प्रदर्शन यदि सत्य है, तो कला पदार्थ भी सत्य होगा। यों तो मनुष्य सदा दो भावोंसे प्रभावान्वित होता है—एक सदोष जिसे मैमानसिक मिथ्या

करते हैं, और दूसरा निर्दोष जो सत्य है। काव्य तथा सभी कलाएँ केवल सत्य की ओर झुकेंगी क्योंकि वे सौन्दर्याभिलाषिणी हैं। इसीलिए कमसे कम गौण रूपसे सदाचारका विचार अनिवार्य है। इसलिए धार्मिक तथा सदाचारी लोग काव्यमें अमर सौन्दर्य मानते हैं। यदि डॉक्टर कजिन्सका कथन है कि "प्रत्येक कला-वस्तु यदि सुन्दर और पारलौकिक है तो अवश्य आत्माको मीठे तथा मधुर स्वप्न दिखा कर परमात्माकी ओर प्रेरित करेगी।" सत्य है, तो जिस वस्तुमें परमात्मा की ओर खींच ले जानेकी शक्ति होगी वह स्वयम् भी पारलौकिक होगी, उसके भाव कदापि हीन न होंगे और न वह मनुष्यको संसार-कूपमें बन्द रखेगी इसीलिए रस्किन ऐसे स्वतन्त्र कला प्रेमीको स्वीकार करना पड़ा कि 'कला की उत्तमता इस बात पर निर्भर है कि उसके भाव आचरणसे शुद्ध और महान हो' इतना ही नहीं टाल्सटाय तो दो पग और आगे गए। उनके मतानुसार कला-पदार्थका मूल्य समयकी धार्मिक भावनासे जाना जाता है—धर्म वह है जो जीवनके उच्चतम अर्थको समझे और अथ वह है जो आत्माको परमात्मासे और मनुष्यको दूसरे मनुष्यसे सम्बन्धित करे। वास्तवमें यदि कला इतनी शक्तिशालिनी है तब तो वह अनाचारसे दूर ही रहेगी। यदि उसका और धर्मका लक्ष्य एक ही है तो सुप्रसिद्ध कवि फ्रान्सिस टामसनके शब्दोंमें 'कविता एक समयमें धर्मकी सखी तथा सहायिका थी, सत्य होना चाहिए। वह मस्तिष्कको सदा निर्मल करती थी—जैसे धर्म आत्माको निर्मल करता है। यदि कविता इस प्रकार

धार्मिक भावनासे प्रेरित है तो स्वतन्त्र होने पर भी वह आचार, सत्य तथा धर्मकी पोषिका होगी। 'कला केवल कलाके लिए' की पुकार साहित्यको नितान्त क्षति पहुँचा चुकी है, और पहुँचावेगी। इसीसे बिगड़कर प्रसिद्ध कलाकार चेष्टरटनने कहा है कि—

'Art for art sake, sensation for sensation sake, that is very true, the love of art for art sake, the love of sensation for sensation sake usually ends in ugliness and sin.'

अर्थात्—"कला कलाके लिए, उद्‌गार उद्‌गारके लिए" यह बहुत ठीक है, किन्तु कलाका प्रेम केवल कलाके लिए, उद्‌गारका प्रेम केवल उद्‌गारके लिए, तथा पापके रूपमें समाप्त होता है।" यह अक्षरशः सत्य है।

काव्यका आन्तरिक मूल्य तथा उसकी इहलोकसे स्वतन्त्रता इसलिए उल्लेखनीय हैं कि उनका सम्बन्ध अधिकतर शृङ्गार-रससे है। शृङ्गार-सम्बन्धी काव्यमें लोग दो प्रधान अवगुण बताते आये हैं—एक तो उसकी अनाचार प्रवृत्ति और दूसरे उसकी अश्लीलता। इन दोनोंका उत्तर हमारे शृङ्गार-प्रेमी साहित्याचार्य केवल कला-स्वातन्त्र्य ही देते हैं। उनके मतसे काव्यके लिए यह देखना आवश्यक नहीं कि उसका समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है अथवा उसका प्रदर्शन सभ्य है या नहीं। सुप्रसिद्ध साहित्यज्ञ पं० कृष्ण-बिहारी मिश्रने कहा है कि—"कविता और नीति किसी भी प्रकार एक नहीं है। जैसे चित्रकार आन्द्रबीका चित्र खींचता है वैसे श्मशानका

मीरण दृश्य भी दिखलाता है... ..वेश्या और स्वकीयाके चित्र खींचनेमें समान स्वतन्त्रता है।..... ठीक इसी प्रकार कवि प्रत्येक भावको चाहे वह कितना घृणित क्यों न हो वर्णन करनेके लिए स्वतन्त्र है......कविताके लिये केवल रस-परिपाक चाहिये। उपयोगितावादके चक्करमें डालकर ललित-कलाका सौन्दर्य नष्ट करना ठीक नहीं।" उपर्युक्त कथनसे तात्पर्य यह है कि कविता कितनी ही अश्लील अथवा दुराचार प्रवर्धक क्यों न हो क्षम्य है—लालित्यके नाते। किन्तु जटिल प्रश्न तो यह है कि वह भाव कौन हैं जिनके प्रदर्शनसे लालित्य आ सकता है? क्योंकि केवल प्रदर्शनसे रस-परिपाककी कुल सामग्री भी नहीं मिल सकती। अस्तु, जैसा कि इस लेखके प्रारम्भमें लिखा गया है, केवल वही भाव काव्यके लिये उपयुक्त है जो किसी सुन्दर वस्तुके देखनेसे हृदयमें उपजता है। जब तक सौन्दर्यानुभव करके कवि स्वयम् आनन्द नहीं उठा लेता, तब तक न तो उसकी लेखनी ही उठ सकती है और न वह पाठकोंको आनन्द ही प्रदान कर सकता है। आनन्द उसी वस्तुसे प्राप्त होगा जो सब प्रकार सुन्दर होगी—किसी कालिमासे कलुषित न होगी, चाहे वह जान्हवी हो चाहे भीषण श्मशान, चाहे स्वकीया हो चाहे परकीया। यदि स्वकीयाके हृदयके भाव शुद्ध नहीं तो मनोविकार-रहित कवि उनसे कदापि प्रभावित न होगा। इसी प्रकार यदि गणिकाके भाव शुद्ध हैं तो कवि क्या सारा संसार उसके चरणों पर लोटता दिखायी देगा। उदाहरणतः किसी स्वकीयाका पति परदेश जा रहा था, उसने उसे रोकनेके लिए किस चालाकीकी शरण ली। देखिये—

प्रिय राखयौ परदेश तैं, अति अद्भुत दरसाय।
कनक-कलश पानिप भरे, सगुन उरोज दिखाय॥

— मतिराम

प्रीतमको अपने उरोज दिखा दिये और वह काम वशीभूत हो परदेश नहीं गया। यह नायिका ईवन मार्गनकी मिस ओनीलसे कम नहीं, जिसने अपने सभी कपड़े उतार डाले थे। ऐसे भाव उत्तम नहीं हो सकते— केवल कामुकताकी दुर्गन्ध आती है, वहाँ रस परिपाक कहाँ, और कला लालित्य कहाँ? "बिहारी" की एक नायिका है—

देवर फूल हने जु हठि, उठे हरषि अंग फूलि।
हंसी करति औषधि सखिनु, देह ददोरन भूलि॥

देवरने भाभीको फूलसे मार दिया। जिस प्रसन्नतासे शरीर रोमाञ्चित हो फूल उठा। सखियां समझीं कि देहमें ददोरे पड़ गये हैं। वे दवा करने लगीं। इसी पर भाभी हंस पड़ी। इससे तो भाभी तथा देवरके दूषित सम्बन्ध स्पष्ट हैं। अतएव ऐसे भाव शब्दोंके दूधसे चाहे जितने धोये जाँय सुन्दर नहीं। यह कहना कि कवि इनका प्रदर्शन कर सकता है क्योंकि वह स्वतन्त्र है, केवल भ्रम है। इससे न तो शुद्ध मनका कवि ही आनन्दित हो सकता है और न पाठक। इस पर यह कहना कि कविने एक पतिता स्त्रीके भाव संसारके सन्मुख रख दिये हैं, केवल हठन्याय है। इतना तो "मिश्रजी" को भी मान्य होगा कि कवि कोई फोटोग्राफर नहीं है जो प्रत्येक वस्तुको कैमरा द्वारा ज्यों का त्यों खींचकर रख दे।

इससे न तो कलाकी सिद्धि होगी और न रस परिपाक ही मिलेगा। अभी थोड़े दिन की बात है कि "उग्रजी" ने अपनी चाकलेट पन्थी पुस्तकें संसारके सम्मुख रखी थीं। किन्तु उनके इस प्रयत्न की कितनी कड़ी आलोचना की गयी थी यह सर्व विदित है। "उग्रजी" की कहानियोंका अन्त भयङ्कर दिखाया गया था। और दूषित मार्ग को तिरस्कृत किया गया था। किन्तु वे अक्षम्य अवश्य थीं। फिर क्या बिहारी और मतिरामकी अनाचारपूर्ण कविताएँ इसलिए सराहनीय हैं कि वे ब्रजभाषामें लिखी गयी हैं और छन्द-बद्ध हैं। अशुद्ध भाव भी अवश्य दिखाये जा सकते हैं किन्तु उनका प्रदर्शन इस प्रकार होना चाहिए कि लोगोंको उनसे घृणा हो न कि उनके प्रति अभिरुचि। इसीलिए कलाका सदाचारपूर्ण जीवन प्रशंसित है। इसलिए नहीं कि अशुद्ध भाव दिखाया ही नहीं जाता। संसार-मञ्च पर कवि दोनों प्रकारके भाव रखता है, जिससे समाज समझ ले कि कौन मार्ग अवलम्बनयोग्य और सदाचारपूर्ण है।

यद्यपि यह अक्षरशः सत्य है कि कवि अपने भावका प्रदर्शन प्रकृतिके अंचलके अन्दरसे करता है, किन्तु केवल अनुकरण नहीं करता। चिड़ियोंकी केलि करते सब कवियोंने लिखा है, किन्तु उनकी संभोग क्रियाको किसीने दिखलानेकी चेष्टा नहीं की। यह केवल इसीलिए कि वह पाठकों को रुचिकर न होगी। यदि कोई ऐसा प्रयत्न करे भी तो साहित्य-दिग्गज उसे एक पल भी न टिकने देंगे। कवि प्रकृति का चित्र खींच लेता है, किन्तु उसके बाह्य शरीर का नहीं, वरन् आन्तरिक हृदयका—उस हृदयको जो सदा सुन्दर

स्वच्छ कणोंके समान चमकता रहता है। कवि कोलेरिजने स्वयम् कहा है—'कलाकार केवल प्रकृतिका अनुकरण करे तो यह उसका व्यर्थ प्रयत्न है। यदि किसी छिपे हुए शरीर को जिसमें सौन्दर्य्या-भासकी सम्भावना हो चित्रित करे तो उस चित्रमें भावका गूढ़ापन, अकृत्रिमता तथा शून्यता प्रकट हो जायगी। आपको प्रकृतिके तत्व पर हाथ अवश्य लगाना होगा परन्तु तत्व पर जो विराट्रूपमें आत्मा तथा प्रकृति को सम्बद्ध करता है।" अस्तु केवल अनुभव-प्रदर्शनको काव्य कहना सरासर भूल है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बुरे अनुभव तथा अनाचारी भाव दिखला हो नहीं सकता। ऐसा करनेसे काव्यका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जायगा और यह होना असम्भव भी है। कवि किसी भी वस्तु को काव्य-संसारसे सदोष होनेके कारण पृथक नहीं कर सकता। ऐसा होने पर वाल्मीकिकी 'रामायण', होमरका 'ईलियड' मिल्टन का 'पेराडाइज लास्ट' आदि सभी महाकाव्य साहित्यसे निकालकर फेंक देने पड़ेंगे। क्योंकि जहाँ रामका चरित्र है वहाँ रावणका भी है, इसी प्रकार अन्य महाकाव्योंमें सेटन (Satan) आदि कुपुरुषोंका जीवनचरित्र है। रस्किनके शब्दोंमें "मनुष्योंके कुल गीत महान् पुरुषोंके आदर्शोंको लिए हुए सुख तथा दुःखके प्रदर्शक हैं।" सचमुच संसार में सत्य तथा असत्य में, धर्म तथा अधर्म में, देव तथा दानवों में सदासे संग्राम होता आया है। ठीक इसी प्रकार युद्ध मनुष्यके हृदय-संसारमें प्रति क्षण होता रहता है। यदि कविता वास्तवमें जीवनका प्रतिबिम्ब है तो दोनों का

दिखलाना अनिवार्य होगा। इसीलिए महाभारतमें जहाँ युधिष्ठिरका जीवन है वहाँ दुर्योधनका भी है। किन्तु किस प्रकार चित्रित हैं ? उनके अन्तके साथ। जिससे पाठकोंको विदित हो जाता है कि कवि की सहानुभूति किसके साथ है। दोनों चरित्रों का उद्भव एक ही मस्तिष्कसे हुआ, किन्तु महाभारतके पठन-पश्चात् यह सन्देह नहीं रह जाता कि आदर्श कौन है ? युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन ? यदि शृंगार-रसकी अन्या तथा परकीया और जार तथा उपपति का वर्णन इसी आशयसे होता कि लोग उनसे घृणा करें, तो निःसन्देह काव्य-संसारमें उनको स्थान न देना अक्षम्य था। किन्तु यहाँ तो बात ही और ही है। बिहारी, देव, मतिराम, और पद्माकर ने तो पथ ही दूसरा पकड़ा। और केवल अपने 'आचार्यत्व' के नाते सब कुछ आँख बन्द करके कह डाला। उनकी बलासे— संसारमें सुरुचि फैले अथवा व्यभिचार। उन्होंने तो अपने आश्रय-दाताओंके बुरे विकारोंको उभाड़कर, बुरी राह पर ले जाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करली। उनके चित्रणसे लोग शिक्षा नहीं ले सकते, वरन् अनाचार की ओर चल पड़ते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि कविता का उपयोगिनी होना आवश्यक है। बात तो यह है कि कविता का दुरुपयोगिनी होना अक्षम्य है। फ्रांस के दो प्रसिद्ध आलोचकों का यह भी मत है कि कविता का उपयोगिनी होना आवश्यक है। रेपिं (Rapin) का कथन है कि "कविता उपयोगी होने के कारण ही रुचिकर होनी चाहिये। इसी सदुपयोग के लिए वह प्रसन्नता को अपना वाहन बना सकती है।"

इसी प्रकार धोलो Boliaeu का आदेश है कि "रोचकता के साथ वस्तुत्व तथा उपयोगिता का सम्मिश्रण करो।" किन्तु यह मत ठीक नहीं। कवि कोई धर्माचार्य नहीं है जो अपनी कविता द्वारा प्रचार-कार्य करे। यदि वह ऐसा कर सकता है तो श्लाघ्य अवश्य है। किन्तु ऐसा न करने में त्रुटि नहीं है। वह तो अपनी कविता द्वारा अनाचार का हाट न गर्म करे और उस समाज को रसातल की ओर न ले चले जिसके आनन्द के लिए वह काव्य-रचना करता है। "उपयोगिता का चक्कर" तो शृंगार-रस के दूसरे आश्रय-दाता स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी शर्म्मा ने ही फैलाया है। शृंगार-रस की सफाई में वे कहते हैं कि—'पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति-भ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाने का नहीं होता। ऐसे प्रसंग को पढ़कर धूर्तों की गूढ़ लीलाओं के दाव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है' इसीलिए देखने वालों की आँखें अनायास ही शृंगार के इस प्रकार उपयोगी होने की ओर उठ जाती हैं। यदि शृंगार-रस में शर्म्माजी के कथनानुसार सतर्क करने का ऐसा सिगनल होता, तो फिर क्या था! भाषा लालित्य तो था ही, उपयोगी और हो जाता और वास्तव में वह नवों रसों का राजा होता। किन्तु यदि ऐसा होता तब! यहां तो रंग-ढंग दूसरा ही है। स्वयम् उन्हीं के आदर्श कवि कहते हैं कि—

> और सबै हरषी फिरैं, गावत भरी उछाह।
> तुही बहू बिलखी फिरै, क्यों देवर के ब्याह॥

देवर का विवाह है और भाभी रोती है। इसीलिए कि उसकी दूषित कामनाएँ अब पूर्ण नहीं हो सकती। इसे पढ़कर सतर्क होने का प्रश्न कहां ? कवि ने ऐसे ढंग से माला पिरोयी है कि लोग भाभी से घृणा नहीं सहानुभूति प्रकट करेंगे! मतिराम की यह पंक्तियां कि—

लखि बैठे मझधार की सबै चतुर हैं बाल।

छतियां नख छ देहु जिन छैल छबीले लाल॥

कितनी चतुर नायिका है! दूषित-प्रेम का संदेह उदाहरण है। क्या यह सतर्कता का सिगनल है ? व्यभिचार को छिपाने की कैसी विचित्र शिक्षा है ? पद्माकर की एक सवैया है:—

भोर जगा जमुना जल धार में जाय धंसी जल केलि की माती,

त्यों पदमाकर पैंग चलीं उछलैं जब तुंग तुरंग विघाती।

टूटे हरा छरा छूटे सबै, सरबोर भई अंगिया रंगराती

को कहतो यह मेरी दशा गहतो न गोविन्द तो मैं बहजाती॥

इससे समाज यदि शिक्षा ग्रहण करे तो यह कि यदि जलकेलि करना हो तो घर पर डूबने का बहाना करो। अथवा कविदेव की पंक्तियां कि—

खेलत में वृषभानुसुता कहुँ जाय धंसी बन कुंजन हूँ,

हार सों हार तहाँ उरझ्यो, सुरझाय रहीं 'कविदेव' सखी हूँ।

तौ लग आय गयो उतते, सु नवीन मनोचित बीच परी ज्वैं.

छोरत छोरत छरकाइदे, छोरि दियो छल सों छतियां छूवे॥

कहिये उरोजों के स्पर्श करनेकी कविदेवने क्या नवीन उक्ति

निकाली और रजिस्ट्री करा ली! इसी प्रकार और भी स्वाधीन पतिकाओं तथा क्रिया चतुर नायकोंकी कथायें हैं जिन्होंने समाज को ठुकराकर, आचार-विचारको तिलांजलि देकर केवल रति-कामना की है। फिर भी इन कवियोंने एक शब्द भी भर्त्सनाके नहीं लिखे। दोहों तथा छन्दादि स्फुट कविताओंमें इतना स्थान कहां कि कवि प्रसग वर्णनके साथ सतर्कताकी घण्टी भी दे दे। वह तो कला-वस्तु बनाकर छोड़ देता है, यदि समाजको क्षति पहुँचे तो उसे क्या?

यह दोष केवल हिन्दी-साहित्यमें नहीं है। प्रत्येक साहित्यका उत्थान और पतन हुआ है। अंग्रेजी साहित्यकी १६ वीं शताब्दीके अन्तमें अनेकों कवि ऐसे हो गये हैं जिनके काव्यमें इसी प्रकारका अनाचार भरा है। स्वयम् शेक्सपियर कहते हैं:—

What to come is still unsure,
Is delay there lies no plenty,
Then come and kiss me, sweet and twenty
Youth's a stuff will not endure.

अर्थात्—"आगे क्या होगा परमात्मा ही जाने, विलम्बमें कुछ धरा नहीं है, अतएव विंशतवर्षीया-सुकामिनी मुझे चुम्बन दो, क्योंकि यौवन सदा बहार नहीं है।" अर्थात् दोनों हाथों यौवन लुटाकर अनाचारसे पुष्टि क्यों नहीं करती? कितनी भली सीख शेक्सपियर दे रहे हैं। इसी सम्बन्धमें कवि "नेवाज" एक बालिका को सीख दे रहे हैं—

कौन सकोच रह्यो है 'नेवाज' जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावरी जोपै कलङ्क लग्यो तो निसंक ह्वै क्यों नहीं अंक लगावति॥

यह शृङ्गारी कवियोंकी कृपा है। इसी प्रकारके हेय तथा निर्लज्जता-पूर्ण भाव उर्दू साहित्यमें भी देखनेमें आते हैं। "मीर" कविका दूषित प्रेम एक अत्तारके लड़केसे है। कहते हैं—

'मीर' क्या सादे हैं बीमार हुए जिसके सबब।
उसी अत्तारके लड़केसे दवा लेते हैं॥

यदि मिश्रजीकी सर्व स्वतन्त्रता अथवा शर्म्माजीकी सर्वंकषताने वाली उक्ति मानली जाय तो उपर्युक्त पद्य भी काव्यमें स्थान पा सकते हैं। किन्तु आशा है कि दोनों विद्वान इसे फाड़कर कूड़ेकी टोकरीमें फेंक देंगे। 'आनरूका' माशूक अब दूसरेसे धन लेता है और उसीके बिस्तरे पर लेटा रहता है। बेचारे रोते हैं कि—

सेज ऊपर गैरकी रहता है अब लेटा हुआ।
जरके लालच इस कदर वह सीमतन खोया हुआ॥

यदि वास्तवमें कविता किसी प्रकारके भावको प्रदर्शित कर सकती है तो उपर्युक्त शेर भी काव्य सागरका अनुपम मोती है! किन्तु, फिर भी लोग इसे हेय समझते हैं। केवल इसीलिए कि काव्य-स्वतन्त्रता शृंखलाबद्ध है। उसे खुला छोड़ देने पर मनुष्य-समाजकी जो दशा हो रही है और होगी वह सबको विदित है। रसायनही को स्वतन्त्र छोड़ देने पर मनुष्य समाजको जो भयंकर फल प्राप्त हुआ, उसे इस स्थान पर दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। कला वास्तवमें सुन्दर भावोंका प्रदर्शन है। उसमें यत्र तत्र कला-

सौन्दर्य्यके निरवाहके लिये सुहागेकी पुट है। उसके शरीरसे निर्मलता झलकती है। इसीलिए संस्कृतज्ञ उसे भगवती शारदा तथा पश्चिमीय देवी मूजज (Muses) के नामसे पुकारते हैं। वह स्वयम् सौन्दर्य्य-मयी प्रतिमा है और उसीकी झलक उसके नामको सार्थक करने वालोंमें होनी चाहिये।

एक और कारण शृंगार लोग शृंगारके समर्थनमें दिया करते हैं। उसको मिश्रजी यों रखते हैं—"इतना ही नहीं नीचे दर्जेका [कलुष] छाप देकर उन्होंने बहुत-सी शृङ्गार-कविताका सुन्दर रूप छिपा दिया है। पर फिर भी इन कवियोंकी निन्दा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने शृङ्गार-रसके उस सुन्दर रूपको क्यों नहीं दिखाया न कि इस कारण कि जो रूप उन्होंने दिखाया है वह उन्हें दिखाना ही नहीं चाहिये था। विषय-रसमें शराबोर कवितामें भी रमणीयता है इसलिए चाहे वह उपयोगिनी न हो, चाहे उसके द्वारा समाजमें किसी प्रकारके कुरुचिके भावोंको आश्रय मिला हो परन्तु वह कविता अवश्य है। ……क्या हुआ जो बुरे तेलके कारण कुछ बुरा धुंआँ भी निकला।" वास्तवमें यदि हिमायत किसीको शक्ति-शाली बना सकती है तो शृगारको इससे अच्छा अवसर न था। परन्तु उसमें कुछ ऐसी दुर्बलता अवश्य है, कि मिश्रजीकी लेखनी भी उस कालिमाको न मेट सकी। उपर्युक्त कथनमें 'रमणीयता' शब्द ध्यान देने योग्य है, किन्तु 'रमणीयताके' अर्थ यदि केवल रोचकता है तो रमणीयता होने पर भी कविता होना आवश्यक नहीं। यदि रमणीयतासे आनन्द प्रदायिनीशक्तिका अर्थ लगाया जाय, तो यह देखनेकी आवश्यकता पड़ती है कि क्या विषय-रसमें

शराबोर कविता भी आनन्द देती है ? यदि कवितामें रस परिपक्व है, तो चाहे कुरुचि-उत्पन्न करने वाली क्यों न हो, कितनी ही अश्लील क्यों न हो, वह कविताका मुख्य गुण तो दिखलाती ही है। आनन्द इतना सूक्ष्म पदार्थ है कि उसका ठीक निर्णय होना असम्भव है। फिर भी मस्तिष्कमें समावेश करके एक विशेष सुख का अनुभव करानेवाली वस्तुको लोग आनन्द कहते हैं। आनन्द और सुखमें विभिन्नता है। एक क्षणिक और केवल इन्द्रियों पर स्थित है, दूसरा सर्व-सामयिक तथा मस्तिष्कसे सम्बन्ध रखता है। इतना ही नहीं सुख और दुःखसे बहुधा मिश्रित भावको भी आनन्द कहते हैं। अन्यथा दुःखान्त नाटकादिसे आनन्द नहीं मिल सकता। प्रोफेसर ढेवींके कथनानुसार "सुख क्षणिक तथा सम्बन्धाधीन है, इन्द्रिय-जनित कारणसे उत्पन्न होता है और उसीके साथ जीता और मरता है। किन्तु आनन्द सर्व सामयिक तथा सार्वदेशिक है। सम्पूर्ण आत्माके भावको आनन्द कहते हैं न कि किसी विशेष अंशको।"

अतएव सुख और आनन्दकी कसौटी पर शृंगार-काव्यको कसकर देखना आवश्यक है। उदाहरणतः 'मतिरामके' क्रिया-चतुर नायक पर दृष्टि डाली जाय—

दुरिवेको गयीं सिगरी सखियाँ, 'मतिराम' कहै इतने छनमें।
मुसिकाय कै राधिके कंठ लगाय, छिप्यो कहूँ जाय निकुञ्जनमें॥

कृष्ण तथा राधिकाको प्रसन्नता अवश्य हुई होगी क्योंकि सब सखियाँ तो इधर आँख मिचौनी खेलने चली गयीं थीं और इधर

कृष्णने एकाएक जल्दीसे राधिकाको कण्ठ लगा लिया। दोनों रोमाञ्चित हुए और दोनोंने सुखका अनुभव किया। पाठकोंको भी इसी सुखका अनुभव होता है। किन्तु इस प्रकारके सुखकी सामयिकता ही कितनी? रोमाञ्चजनित सुख रोमाञ्च तक ही रह सकता है और रोमाञ्च उतने ही क्षण तक टिक सकता है जब तक राधिका गले लगी रहें। ऐसे भावमें सुख और प्रसन्नता भले ही हो किन्तु आनन्द नहीं। इन्द्रिय-जनित प्रसन्नता, इन्द्रिय शिथिलता पर निर्भर है। पुरुष और स्त्रीका विषय सुख यौवनावस्था तक है—रक्तके तीव्र संचार, सेव ऐसे होंठ, लचीली कमर तक है। किन्तु समयोपरान्त केवल शून्य ही शून्य है जैसा कि कवि 'फ्लेचर' कहते हैं कि—

> Cherries kissing as they grow
> And inviting men to taste,
> Apples even ripe, below
> Gently winding to the waist;
> All love emblems and cry
> ' Ladies, if not plucked we die '

अर्थात् "बेरीफलकी भाईं चुम्बनको लालायित हैं और पुरुषों का आह्वान करते हैं, पके हुए सेवसे कपोल और कमर तक सुगठित शरीर सभी प्रेमके चिह्न यही पुकार कर कह रहे हैं 'कि ललनाओं यदि तुरन्त भोग नहीं हुआ तो हमारा अन्त है।' ऐसे रसमें सर्वसामयिक आनन्दकी छाया भी नहीं मिल सकती।

क्योंकि कभी न कभी होंठ सूखे अदरकका और कपोल पके पपीते का रूप धारण करेंगे। तब सेवकी मिठास कहाँ, और चेरीका रक्त-संचारी स्वाद कहाँ ?

सच तो यह है कि इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख निम्नश्रेणीका सुख है। और बड़े बड़े दार्शनिकोंके मतानुसार सर्वोत्तम प्रसन्नता केवल मस्तिष्क द्वारा मिल सकती है। मनुष्यकी सभ्यताका विकास इन्द्रियोंसे उठकर मस्तिष्क तक पहुँचने ही पर हुआ है। यह सच है कि ह्लोरियम् मेन्डविल तथा भारतके चारवाक इन्द्रिय-जनित सुखको सबसे आगे रखते हैं क्योंकि उनकी प्राप्तिमें कठिनाई नहीं है। परन्तु यह भी व्यक्तिक-सुखमें विश्वास नहीं रखते। उनका भी मत है कि साम्प्रदायिक सुखही आदर्श है और होना चाहिए। ऐसी दशा में मास्तिष्कका प्रयोग अनिवार्य्य हो जाता है। मेन्डविलादिके आदि गुरु इपीक्यूरस (Epicureus) का मत भी है कि "तुलनारूपमें मास्तिष्क सुख अधिक स्वच्छ, सामयिक तथा पवित्र है।" जब चारवाकके मतधारियोंका यह विचार है तब औरोंका तो कहना ही क्या ? इन लोगोंने तो आनन्दको इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है:—

आनन्द

- आत्मिक (व्यक्तिक)
  - स्थूल अथवा इन्द्रिय सम्बन्धी
  - सूक्ष्म अथवा मानसिक
- परोपकारी (साम्प्रदायिक)
  - स्थूल अथवा ऐन्द्रिक
  - सूक्ष्म अथवा मानसिक
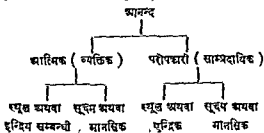
सुखका आदर्श सम्प्रादायिक मानसिक ही माना गया है। स्थूल अथवा ऐन्द्रिक आत्मिक सुखको नीचे रखा गया है। प्रथम साम, दामादि ६ गुणों से विभूषित हैं अतएव ग्रहणीय हैं, और दूसरा त्याज्य है, क्योंकि वह काम, क्रोधादि ६ अवगुणोंका आश्रयदाता है। काम-भाव आत्माको मलिन कर सर्वनाश तक कर देते हैं। जैसा कि कवि स्काट कहते हैं—

His soul like Bark with rudder lost
One passion's Changeful tide was lost
× × × ×
And o, when passion rules how rare
The hours that fall to virtues share

अर्थात्—"काम-समुद्रमें उसकी बिना पतवारकी नौका वह चली, और लहरोंमें झकोरे खाने लगी।...जब आत्मा पर काम विजय पाता है, तब अच्छाईमें समय बहुत कम बीतता है?" इसीलिए भगवान् बुद्धादि महात्माओंने इन्द्रिय-निग्रहका आदेश किया है। प्रसिद्धदार्शनिक यैनिंगका विचार है कि "हमारी भूख तथा इच्छाओंमें वृद्धिकी शक्ति है। जितनी स्वच्छन्दता मिली उतनी ही उन्होंने सीमा बढ़ायी, यदि दबायी न गयी तो आत्मा ही को घेर लेती हैं।" इसीलिए उनकी देख-रेख रखनी चाहिये, उनको रोकना चाहिये। भगवान कृष्ण ने गीता में—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः।
योगेन व्यभिचारिण्या धृतिः सपार्थ सात्विकी॥

कहकर इन्द्रिय-निग्रहही पर आत्मोन्नतिको आश्रित किया है।

अभी उस दिन प्रसिद्ध विद्वान डीन इञ्जने कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में धर्मोपदेश करते हुए कहा है कि—'To say that no repression is needed is nonsense. The man who exercises no selfcontrol is at the mercy of a mob of passion and impulses which will give him no peace and will entirely destroy his usefulness'''If you do not feel any sort of obligation to keep your body in sanctification and honour, I am afraid we have nothing more to say except to appeal to gentlemanly feeling to respect the personal right and dignity of other, especially our woman do not meet these temptations by frontal attack—अर्थात्—''यह कहना केवल पागलका प्रलाप है कि किसी प्रकारके निग्रहकी आवश्यकता नहीं। जिसने आत्म-संयम नहीं किया—अपनेको इच्छाओं तथा कामनाओंके भरोसे छोड़ दिया उसको शान्ति तो मिलती ही नहीं, वरन उसकी उपयोगिता भी नष्ट हो जाती है।'''यदि आप स्वयम् मर्यादा-पालन तथा स्वच्छ रहना अनिवार्य नहीं समझते, तो कमसे-कम दूसरों की मर्यादा तथा अधिकार पर तो हाथ न लगाइये, कम से-कम स्त्रियोंकी मर्यादाका तो विचार रहे। इन प्रलोभनोंमें फँसकर उसे तोड़नेका प्रयत्न न कीजिये।" यदि जीवनमें इस प्रकारके आत्म-संयमकी नितान्त आवश्यकता है, तबतो उन कवि तथा

ने पाठकोंके अनुमान पर छोड़ दिया है। इनमें इन्द्रिय-परायणता कूट-कूट कर भरी हुई है। इसी प्रकार मतिराम की पंक्तियाँ कि—

सोने कैसी बेली अति सुन्दर नबेली,
    बाल ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियां।
नेक नीरे जाय करि, बातन लगायकर,
    कछु मनपाय हरि बाकी गही बहियां।
सैनन चाखि गयी गोनन थकित भयी,
    आँखिन में चाह करै बैनन में नहियाँ॥

में केवल भोली बालिकाके प्रति आसक्त व्यभिचारीके भाव हैं जिनमें सुख नहीं केवल अशान्तिही है। 'विहारी' का दोहा है—

परयो जोर विपरीत रति, रुपी सुरत रनधीर।
करत कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मजीर॥

केवल भोग-विलासकी डुगडुगी बजाकर मानसिक सुखको लात मार रहा है।

इसी प्रकार अंग्रेजी साहित्यमें शेक्सपियरका वीनस एण्ड एडोनिस (Venus and Adonis) इसी रसका सजीव उदाहरण है। वीनस कहती है—

Graze on my lips, and if those hills be dry.
Stray lower where thousand pleasant fountains lie,
Within this limit is relief enough
Sweet bottom grass and high delightful plain,
Roun[illegible] brakes obscure and rough.

कलाकारोंको धिक्कार है जो कलाके बहाने मनुष्योंको सद्‌मार्गसे हटा कर इन्द्रिय-वशीभूत करके आत्माओंको कुचल देते हैं। बा० श्यामसुन्दरदासका कथन अक्षरशः सत्य है कि "आचार और नीतिका विरोध तथा उनकी उपेक्षा या अभावसे कविताकी अंगपुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि, सदाचार और नीतिकी बातें जीवनसे भिन्न नहीं हो सकतीं। और यह निश्चय है कि काव्य-जीवनकी विभूतियोंके अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

देखना तो केवल यह है कि जिस रमणीयताका गुणगान मिश्रजीने विषय-रसको कविताके सम्बन्धमें किया है वह कहां तक उचित है। यदि वह मधुर शब्दोंसे तथा शुभालङ्कारोंसे विभूषित होने पर इन्द्रिय-संयमको प्रोत्साहित नहीं करती, तो रमणीय कदापि नहीं कही जा सकती। उदाहरणतः 'केशव'जी कहते हैं कि–

केशव चूक सबै सहिहौं, मुख चूम चलै यह तौ न सहौंगी॥
कै मुख चूमन दै फिर मोहि, कै आपनी धायसों जाय कहौंगी॥

ग्वाल-बालिका अज्ञात ललना नहीं है। इसमें आत्म-संयम कहां! मानसिक सुख कहां! यहाँ तो सजीव कामुकता है जो आत्माको घुनकी नाईं खा रही है। अथवा रसिकताप्रिय 'शङ्कर' जीकी पंक्तियाँ कि—

खोलिके यहावो नहीं चोली दिखराओ जो न होय घरजाओ आओ काहे यतराति हो
सारी सरकाओ अंचरायें न दुराओ, लाओ कंचुकीमें कंदुक चुराये कहां जाति हो!

यह किसी अज्ञात नवयुवकके भोले विचार नहीं हैं जो कंचुकी से ढके स्तनोंको गेंद समझता हो। वरन् वह अच्छी तरह जानता है, उनसे प्रसाद भी पा चुका है। इसके आगे क्या हुआ 'शङ्कर' जी

अर्थात् निद्रागृहमें उतनेही दृश्य देखनेमें आते हैं जितने कि आगमन गृहमें, और जैसी कि मानव-प्रकृति है निन्द्रागृहहीमें अधिक समय बीतता है।" किन्तु उपर्युक्त दोनों बातें सत्य नहीं हैं। वास्तवमें वह समय जो निद्रागृहमें बिताया जाता है वार्तालाप गृहसे कहीं भी कम होता है। कम से कम उसका मूल्य उस समयसे कम है जोकि स्त्री-पुरुष प्रेम प्रतीक्षामें व्यतीत करते हैं। ऐसी दशामें शयन-शय्या पर पड़े हुए स्त्री-पुरुषका समय तुलना रूपसे उस समयका कोई मुकाबला नहीं कर सकता जो कि प्रेमी तथा प्रेमिका आँखोंसे चुंबन तथा हृदयसे प्रणाम करनेमें व्यतीत करते हैं। समयका मूल्य आधिक्यसे नहीं उसकी विशेषताहीसे निकाला जाता है। एक आलोचकका कथन है—"उलट फेरमें देर नहीं लगती व्यक्तिकी जीत तथा हार क्षण भरमें होती है, रातही भरमें बुढ़ापा घेर लेता है, और बहुधा एकही मधुर-शब्द-के कारण जीवन भरका सुख मिल जाता है।" यह निश्चय है कि उलट फेरमें अधिक आकर्षण है, व्यक्तित्वके नाश वा लाभमें अधिक मनोरंजन है। कविताके लिए वही विषय उपयुक्त हैं, जिनसे कि अधिकाधिक आनन्द मिले।

दूसरी विरोधात्मक बात केवल अनुकरणकी है। जीवनकी प्रतिमा होने परभी कविता रमणीयताकी भिखारिन है—सौन्दर्यकी अभि-लाषिणी तथा आनन्दकी इच्छुकिनी है। कवितामें रस-परिपाक होना आवश्यक है। अतएव केवल मनोविकारके स्थायित्वके नाते शृंगारविषय उपेक्षणीय नहीं है। सृष्टि-सृजन मनुष्यकी आकर्षक क्रिया नहीं है। पुष्प फूलता है, लोग उसे देखकर मुग्ध होते हैं कोई

कज़ा गले से दाग़ पै लाज़मी नहीं।
दे–दे दुआ के वास्ते मत कर नहीं-नहीं॥

कैसी कामान्धता प्रकट होती है! उपर्युक्त सभी भाव शृंगार-रस के हैं। यहाँ पर बात केवल 'मलिन धुएँ' की नहीं है। यहाँ तो जो कुछ निकला वह केवल धुआँ था और वह भी खराब—जिससे काव्यका गला घुट गया।

अब केवल एक और बात विषय-रसके समर्थनकी रह जाती है। वह मिश्रजीके शब्दोंमें यो है "नर नारीकी प्रीतिमें प्रकृति और पुरुषकी प्रथमप्रेरणाका प्रतिबिम्ब झलकता है। ...यो स्थाई मनोविकारोंका अनुशीलन करते समय जो पुरुषकी प्रीति-सृष्टि सृजनका आदि कारण भी उसीके अन्तर्गत दिखाई पड़ता है। इसका स्थायित्व इतना दृढ़ है कि सृष्टि-पर्यन्त इस स्थाई मनोविकारोंका नाश नहीं हो सकता।" सारांशतः मिश्रजीका यह कथन है कि सृष्टिसृजन मनुष्योंका स्थाई मनोविकार है। अतएव कविका कर्त्तव्य है कि कविता द्वारा संसारके सम्मुख ऐसे विचारोंको रखे। कला जीवनकी अनुकरण-प्रतिमा होनेके कारण मनुष्यकी विषय-क्रियाओं पर पर्दा नहीं डाल सकती। और न डालना चाहिये। इसीका दूसरे शब्दोंमें आधुनिक कलाकार डब्ल्यू० एल० जार्ज (W. L. George) ने अपनी मर्म-स्पर्शिनी भाषामें प्रकट किया है—

. There would be as many Scenes in the bedroom as in the drawing room, Probably more, given that human beings spend more time in the former than in the latter"

अर्थात् निद्रागृहमें उतनेही दृश्य देखनेमें आते हैं जितने कि आगमन गृहमें, और जैसी कि मानव-प्रकृति है निन्द्रागृहहीमें अधिक समय बीतता है।" किन्तु उपर्युक्त दोनों बातें सत्य नहीं हैं। वास्तवमें वह समय जो निद्रागृहमें बिताया जाता है वार्तालाप गृहसे कहीं भी कम होता है। कम से कम उसका मूल्य उस समयसे कम है जोकि स्त्री-पुरुष प्रेम प्रतीक्षामें व्यतीत करते हैं। ऐसी दशामें शयन-शय्या पर पड़े हुए स्त्री-पुरुषका समय तुलना रूपसे उस समयका कोई मुकाबला नहीं कर सकता जो कि प्रेमी तथा प्रेमिका आँखोंसे चुंबन तथा हृदयसे प्रणाम करनेमें व्यतीत करते हैं। समयका मूल्य आधिक्यसे नहीं उसकी विशेषताहीसे निकाला जाता है। एक आलोचकका कथन है—"उलट फेरमें देर नहीं लगती व्यक्तिकी जीत तथा हार क्षण भरमें होती है, रातही भरमें दुरुण घेर लेता है, और बहुधा एकही मधुर-शब्द-के कारण जीवन भरका सुख मिल जाता है।" यह निश्चय है कि उलट फेरमें अधिक आकर्षण है, व्यक्तित्वके नाश वा लाभमें अधिक मनोरंजन है। कविताके लिए वही विषय उपयुक्त हैं, जिनसे कि अधिकाधिक आनन्द मिले।

दूसरी विरोधात्मक बात केवल अनुकरणकी है। जीवनकी प्रतिमा होने परभी कविता रमणीयताकी भिखारिन है—सौन्दर्यकी अभि-लाषिणी तथा आनन्दकी इच्छुकिनी है। कवितामें रस-परिपाक होना आवश्यक है। अतएव केवल मनोविकारके स्थायित्वके नाते शृंगारविषय अनुपेक्षणीय नहीं है। सृष्टि-सृजन मनुष्यकी आकर्षक क्रिया नहीं है। पुष्प फूलता है, लोग उसे देखकर मुग्ध होते हैं कोई

उसे देखकरही बदलने लगता है, कोई उसे तोड़कर, गुलदस्तेमें लगाकर और कोईमाला पहनकर प्रसन्न होता है। किन्तु गुलदस्तेमें लगाकर, अथवा माला पहनकर आनन्द लेनेमें कम रमणीयता है। यही दशा प्रेम तथा विषय की है। विषय प्रेमका अन्त हो सकता है, किन्तु उसके जीवनमें और प्रेमके जीवनमें समानता नहीं है। हमारे मधुररीत जीवन-की प्रतिमाएँ हैं न कि विषय—की जो कि हर प्रकारसे जीवनका अन्त है। विषय-रसका वही स्थान होना चाहिए जो कि वनस्पति-शास्त्रको मिला है। केवल पंक्ति-बद्ध हो जानेसे यदि कविता हो जाया करती तो अमरकोषको काव्यमें प्रधान स्थान मिलता और कम-से-कम शृंगार-रसको उच्च श्रेणीके रसोंसे अलग कर देना पड़ता।

सबसे बड़ा अवगुण विषय-काव्यका यह है कि समाज पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसको मिश्रजीने भी स्वीकार किया है। इसका यदि ज्वलन्त प्रमाण लेना हो तो प्रसिद्ध विद्वान रूसोकी आत्म-कथा पढ़ लीजिये। लड़कपनमें शृंगार-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़नेके कारण उनकी मनोवृत्ति इतनी बिगड़ गयी युवावस्थामें कहीं भी किसी स्त्रीको देखते ही उनमें वासना उत्पन्न हो जाती थी और इसी दोषने इतने बड़े विद्वानको धक्का पहुँचा दिया। फिर ऐसे वर्णनोंसे लाभ ही क्या ? रतिके वर्णन से केवल काम-लोलुपताकी बाजार गरम करना है। यही दशा नख-शिख वर्णनकी है। स्तन तथा जंघाके वर्णनसे क्या कला अधिक सुन्दर होजाती है, अथवा उससे अधिक सन्तोष मिलता है ? कुछ भी नहीं। हाँ ! अश्लीलताकी मात्रा अधिक बढ़ जाती है वास्तवमें अशुद्ध मनोवृत्तिके कलाकारही प्रत्येक भाव, तथा क्रियाके

प्रदर्शनमें लगे रहते हैं, क्योंकि उच्च भावोंकी ओर अपनी दुर्बलताके कारण उनका ध्यान ही नहीं जाता। इस पर यह कहा जा सकता है कि बड़े से बड़े कविने इस रसमें कविता की है। किन्तु इसका भी उत्तर है। संसारमें बहुतसे महान पुरुषोंने चोरीभी की है, किन्तु क्या चोरी अनुकरणीय हो सकती है? संसारका इतना बड़ा कलाकार 'ओस्कर वाईल्ड' एक बड़े दुराचारके अभियोगमें जेल-यात्रा भुगतता रहा, तो क्या कलाकारके महान होनेमें दुराचारी होनाभी आवश्यक है? कवि भी मनुष्य है, इसी मनुष्यत्वके नाते वह भी भूलकर बैठता है, अतएव उस भूलको भूल जाना आवश्यक है। उसके अच्छे कार्य परही दृष्टि डालनी चाहिये। शेक्सपियरको ख्याति लियर और हेमलेटसे मिली, न कि वीनस एडोनिससे, कालिदासको ख्याति शाकुन्तल ऐसे प्रेमके अद्वितीय चित्रणके कारण मिली न कि विषयकी क्रियाओंके वर्णनसे। कवि कलाका विद्वान है न कि काम-शास्त्रका

भारतीय कलामें त्रिविक्रम

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पांसुरे॥

वेदकी श्रुतिमें कहा गया है कि विष्णुने तीन पैर रखकर त्रिलोकी को नाप लिया। पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौके तीन विभाग उसके चरणों के विस्तारमें सीमित होगए। यह मंत्र भारतीयोंके अनेक संस्कारों पर पढ़ा जाता है, जीवनके प्रत्येक अवसर पर त्रिविक्रम विष्णुके त्रेधा पाद-निहरणके वैज्ञानिक सिद्धान्तसे शिक्षा ग्रहणकी जा सकती है।

जितना ब्रह्मांड है सब विष्णुरूप है। ब्रह्मांडमें व्यापक होनेसे ही विष्णुकी संज्ञा हुई है। यह ब्रह्मांड त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी रचना है। तीन गुणोंके वैषम्यसे ही सृष्टि होती है। सत्व-रज-तमके ही नामांतर ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। इन्हींमें सृष्टिका आदि, मध्य और अंत समाया हुआ है।

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयके तीन चरणोंमें सारे भूत बँधे हुए हैं। ब्रह्मांडमें एक परमाणुभी ऐसा नहीं है, जो सर्ग-स्थिति-लयके अखंड नियमसे नियंत्रित न हो। जहाँ तक विष्णुरूप ब्रह्मांड है, वहाँ तक विराट्के चरणोंने सबको नाप रक्खा है। फिर क्या आश्चर्य जो ऋषियोंने समाधिमें इस तत्त्वका अनुभव किया हो कि सृष्टिमें त्रिक-का ही प्राधान्य है। इसी वैज्ञानिक नियमको उन्होंने इस मंत्रमें कहा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे।

किसीभी विज्ञान-संबंधी नियमकी पराकाष्ठा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दोंमें व्यक्त किया हो। वह जितना व्यापक होगा, उतनाही श्रेष्ठ है और प्रकृतिके उतनेही अधिक रहस्योंकी कुंजी है। साथही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतनाही उसे सरलभी होना चाहिए (The more generalised a scientific law is, the simpler it is) विष्णुने तीन पैरमें त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियमकी संभावना कहाँ है। प्रत्येक परमाणुके अंतःकरण पर और विराट् सौर-मंडलके वक्ष पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णुने तीन चरणोंमें तीन लोकोंको नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को रज, सत और तम की अवस्थाओंमें से निकलना पड़ता है, कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलयके चक्रसे नहीं बचा है। इसलिये जातकर्मके संस्कारमें हमारे विप्रगण हमें स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

अर्थात् यह जो नवजात शिशु तुम देखते हो, जिसके शतसांवत्सरिक जीवन-सूत्रके आदि उत्सवमें आज इतने विह्वल हो, वह रह-रहकर याद दिलाता है कि विष्णुने पहला चरण उठाया है, उसके दो चरण आगे आनेवाले हैं। हममें से हर कोई इन्हीं तीन चरणोंके विन्यासमें कहीं-न-कहीं पड़ा हुआ है। विवाहके आमोदमें जब नववधूके

कदाचमें त्रिलोकी विस्तृत हो जाती है, ऋत्विक् लोग यही घोषित करते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

लेकिन अबको क्या हो रहा है ?

समूढमस्य पांसुरे—

विष्णुके मध्य चरणमें लोग समूढ हो जाते हैं। यह पांसुल प्रदेश है, इसमें अविवेकी जन विमूढ होकर आगे आनेवाले उस चरणको नहीं देखते, जब चिताकी भस्मके विलेपन-समय, ऋत्विक् लोग फिर पुकारकर यही सुनायेंगे—

इदं विष्णुर्विचक्रमे................

यह शरीर एक चिति ही है, इसकी अंतिम आहुति देनेके लिये जो समिधाओंका चयन किया जाता है, उसीका नाम चिता है। वह अमंगल करनेवाली है सही, परन्तु प्रत्येक प्राणीकी देहमें किसी न-किसी दिन अवश्य उस अमंगलास्पद भस्मका अंगराग लगाया जायगा। जिसने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे'के वैज्ञानिक तत्त्वको जान लिया है, वही कालिदासके स्वरमें स्वर मिलाकर कह सकेगा—

तदंगसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजोविशुद्धये।

अर्थात् विष्णुका जो तीसरा चरण है, वह रुद्र बनकर प्राणियोंको रुलाता है, परंतु विवेकी जन उसीमें शिव-तत्त्वके दर्शन करते हैं। विनाशमें भी कल्याणका मर्म छिपा है, चिता भी परम शुद्धिका हेतु है, यही प्राकृतिक विधान है। शिवने जिस भस्मको संस्पृष्ट कर दिया है, उसमें अमंगलका लेश भी नहीं है। जो इस रहस्यमें पारंगत

हो गया है, उसीके लिये व्यक्तसे अव्यक्त-स्थितिमें चले जानेसे परिवेदना नहीं है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ गीता॥

अव्यक्त, व्यक्त और फिर अव्यक्त, यी विष्णुका त्रेधा विचक्रमण है। इसीको कृष्णने कौमार, यौवन और जरा भी कहा है और 'चमूढमस्यपांसुरे' के उत्तरमें बताया है कि धीर इस चक्रमें पड़कर मोह को नहीं प्राप्त होते।

धीरस्तत्र न मुह्यति—गीता २।१३।

नटराज शिवके नृत्यके श्रीगणेश, मध्य और पर्यवसानके साथ ही कालके तीन परिच्छेद भूत, वर्तमान और भविष्यभी मिले हुए हैं। इन्हींमें विश्वभूत समाए हुए हैं। इसलिये समस्त विश्व मर्त्य है। कालने जिनको ग्रस लिया है, वे ही मरणधर्मा हैं। सारी सृष्टि को देश और काल (Time space) ने परिच्छिन्न कर रक्खा है। वह सब विष्णुके तीन चरणोंमें नाप ली गई है। उससे परे अमृत ब्रह्म है, जहाँ प्रकृतिका प्रपंच नहीं है, उसेही विष्णुका परम-धाम कहा गया है। वह परमपद है। उस धाममें एक शहदका कुआँ है, जिसके मधु स्वादको ज्ञानी सदा चखते हैं। जिनके चक्षु हैं, वे उस परमपदको आकाशमें फैला हुआ देखते हैं। परम-तत्त्व अविवेकियोंके लिये कितनाभी गूढ़ क्यों न हो, ज्ञानियोंको वह सर्वत्र फैला हुआ जान पड़ता है —

दिवीव चक्षुराततम्।

'इदं विष्णुः' के वैदिक मंत्रमें जो कलात्मक सूत्र है, उसने सारे देशके जीवनको कलामय बनानेमें भाग लिया है। भारतीय भूमि पर जन्म लेनेवाला कोई दर्शन, धर्म, विज्ञान या कलामय विकास इस त्रैगुण्यके प्रभावसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। जहाँ इन तीनों का समन्वय किया गया है, वही जीवन-क्रम एकांगी या ऐकांतिक होनेसे बचा रहा है। त्रैगुण्य या ब्रह्मा-विष्णु महेशके सामंजस्यमें सौंदर्य है, उनकी एकनिष्ठतामें संघर्ष और विरोध है।

वेद-त्रयीके समन्वयने ज्ञान कर्म और उपासनाके रूपमें समस्त जीवनको समन्वय विशिष्ट बनाया है। एकदेशीय ज्ञान विज्ञानका विकास ही इन तीन पर्वोंमें हुआ है। परंतु सर्वाविरायी वहीं मिलेगा, जहाँ इन तीनोंके वैषम्यमें भी सामंजस्यका मार्ग निकाला गया है। काव्यमें कालिदास और तुलसीदासकी अमर कृतियोंमें हरि-हरका समन्वय किया गया है। यही उनकी ऐकांतिक सफलता का रहस्य है।

कलाके क्षेत्रमें भी ब्रह्मा, विष्णु और महेशका ही प्राधान्य है। तीनों 'देवों' के प्रतिनिधि तीन गुणोंने एक साथ मिलकर भारतीय कलाको जो अमर सौंदर्य और आध्यात्मिकता प्रदानकी है, वह पृथ्वीतलमें अभूतपूर्व ही है। उस कला की विशेष व्याख्या करनेवाला महामहिम सूत्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। वेदत्रयीके साथ इसका संबंध है; प्रणवकी तीन मात्राओंमें जिस संस्थान (System) का संकेत है, वह भी इस सूत्रमें है। बिना इन तीनोंके भारतीय कलाका जन्म हो ही नहीं सकता था। दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान

और काव्यके सदृश कला भी राष्ट्रीय संस्कृतिकी आत्माका एक विकसित रूप है। वह इस त्रिकसे कैसे बच सकती थी। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान (Synthesis loving) है। हमारे देशके अंतःकरणको वह वस्तु रुचतीही नहीं, जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सम्मिलन न हो। इन तीनों गुणोंके परिपाकसे भारतीय कलामें विलक्षण शांति, आनंद और सौंदर्यकी स्थिति है। भविष्यके कलाकोविद इस विशेषताको ध्यानमें रक्खें, तभी वे राष्ट्रीय कलाके सच्चे प्रतिनिधि कहला सकेंगे।

इन तीन गुणोंको अच्छी तरह समझ लेना प्रत्येक कला-मर्मज्ञ के लिये भी आवश्यक है, क्योंकि बिना इनका ज्ञान हुए वह प्राचीन कलाका सहानुभूति-पूर्ण अनुशीलन करनेसे वंचित रहेगा और साथही उन अनेक विशेषताओंको न समझ सकेगा, जिन्होंने गौण रूपसे समवेत होकर राष्ट्रके कलात्मक जीवनमें भाग लिया है।

सत्यं=Reality—ब्रह्मा

शिवं=Spirituality—शिव

सुन्दरं=Decorativeness—विष्णु

सत्य और सुंदरमें उन सब द्वंद्वोंका परिहार हो जाता है, जिन्होंने वस्तु स्थितिवाद (Realism) और आदर्शवादके नामोंसे समस्त संसारके कलाविदोंको दो श्रेणियोंमें बाँट दिया है। भारतवर्षमें इस प्रकारका द्वंद्व कभी सुननेमें नहीं आया। सत्य और सुंदर वस्तुके सम्मिलनसेही मानव हृदय परितृप्त होता है। परंतु भारत-वर्षकी आध्यात्मिक भूमिमें कलाका जन्म ही न होता, यदि शिवा-

'इदं विष्णुः' के वैदिक मंत्रमें जो कलात्मक सूत्र है, उसने सारे देशके जीवनको कलामय बनानेमें भाग लिया है। भारतीय भूमि पर जन्म लेनेवाला कोई दर्शन, धर्म, विज्ञान या कलामय विकास इस त्रैगुण्यके प्रभावसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। जहाँ इन तीनों का समन्वय किया गया है, वही जीवनक्रम एकांगी या ऐकांतिक होनेसे बचा रहा है। त्रैगुण्य या ब्रह्मा-विष्णु महेशके सामंजस्यमें सौंदर्य है, उनकी एकनिष्ठतामें संघर्ष और विरोध हैं।

वेद-त्रयीके समन्वयने ज्ञान कर्म और उपासनाके रूपमें समस्त जीवनको समन्वय विशिष्ट बनाया है। एतद्देशीय ज्ञान-विज्ञानका विकास ही इन तीन पर्वोंमें हुआ है। परंतु सर्वातिशायी वहीं मिलेगा, जहाँ इन तीनोंके वैषम्यमें भी सामंजस्यका मार्ग निकाला गया है। काव्यमें कालिदास और तुलसीदासकी अमर कृतियोंमें हरि-हरका समन्वय किया गया है। यही उनकी ऐकांतिक सफलता का रहस्य है।

कलाके क्षेत्रमें भी ब्रह्मा, विष्णु और महेशका ही प्राधान्य है। तीनों 'देवों' के प्रतिनिधि तीन गुणोंने एक साथ मिलकर भारतीय कलाको जो अमर सौंदर्य और आध्यात्मिकता प्रदानकी है, वह पृथ्वीतलमें अभूतपूर्व ही है। इस कला की विशेष व्याख्या करनेवाला महामहिम सूत्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। वेदत्रयीके साथ इसका संबंध है; प्रणवकी तीन मात्राओंमें जिस संस्थान (System) का संकेत है, वह भी इस सूत्रमें है। बिना इन तीनोंके भारतीय कलाका जन्म हो ही नहीं सकता था। दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान

और काव्यके सदृश कला भी राष्ट्रीय संस्कृतिकी आत्माका एक विकसित रूप है। वह इस त्रिकसे कैसे बच सकती थी। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान (Synthesis loving) है। हमारे देशके अंतःकरणको वह वस्तु रुचतीही नहीं, जिसमें 'सत्यं शिव सुन्दरम्' का सम्मिलन न हो। इन तीनों गुणोंके परिपाकसे भारतीय कलामें विलक्षण शांति, आनंद और सौंदर्यकी स्थिति है। भविष्यके कलाकोविद इस विशेषताको ध्यानमें रक्खें, तभी वे राष्ट्रीय कलाके सच्चे प्रतिनिधि कहला सकेंगे।

इन तीन गुणोंको अच्छी तरह समझ लेना प्रत्येक कला-मर्मज्ञ-के लिये भी आवश्यक है, क्योंकि बिना इनका ज्ञान हुए वह प्राचीन कलाका सहानुभूति-पूर्ण अनुशीलन करनेसे वंचित रहेगा और साथही उन अनेक विशेषताओंको न समझ सकेगा, जिन्होंने गौण रूपसे समवेत होकर राष्ट्रके कलात्मक जीवनमें भाग लिया है।

सत्यं=Reality—ब्रह्मा

शिवं=Spirituality—शिव

सुन्दरं=Decorativeness—विष्णु

सत्य और सुंदरमें उन सब द्वंद्वोंका परिहार हो जाता है, जिन्होंने वस्तु स्थितिवाद (Realism) और आदर्शवादके नामोंसे समस्त संसारके कलाविदोंको दो श्रेणियोंमें बाँट दिया है। भारतवर्षमें इस प्रकारका द्वंद्व कभी सुननेमें नहीं आया। सत्य और सुंदर वस्तुके सम्मिलनसे ही मानव हृदय परितृप्त होता है। परंतु भारत-वर्षकी आध्यात्मिक भूमिमें कलाका जन्म ही न होता, यदि शिवा-

त्मक गुणोंके साथ कलाका तादात्म्य न कर दिया जाता। यदि कला भी अध्यात्म-सामग्रीका अंग नहीं है, तो उसे आत्म-प्रधान जीवनमें स्थान कहाँ मिल सकता है। और, आत्म-पराङ्मुख होकर किसीभी वस्तुका मूल्य नहीं है। मध्यकालीन भारतीय कला पर बाह्य प्रभावके कारण शिवात्मक अंशका ह्रास हो गया था। फलतः भारतके उच्च आध्यात्मिक जीवनसे कलाका संबंध विच्छिन्न हो गया, और कलामें जो संजीवनी शक्ति थी, वहभी शृंगार विषसे मूर्च्छित होकर निष्प्राण बन गई। कलाकी शुष्क परिभाषाके अनुशासनसे बाधित होकर शृंगार-प्रधान काव्य चित्र-प्रासादादिको हमें कलाका नाम भलेही देना पड़े, परंतु एवंदेशीय कलाके ऐतिहासिक विकासमें भोगोन्मुख कला बहुत निकृष्ट और जघन्य श्रेणीकी है। विशुद्ध भारतीय कलाका युग मुस्लिम-कलाके उदयसे पूर्वही समाप्त हो गया था।

सत्य, शिव और सुंदरके त्रिकमें से एक-एक गुणकी विशेष अभिव्यक्ति देखनेके लिये हमें विदिशा, अजंता और इलोराके दर्शन करने चाहिये। सत्यं-शिवं सुन्दरम्के समानही विदिशा-अजंता-इलोराभी भारतीय कलाका प्रमुख सूत्र है। जिस प्रकार कलाके सिद्धांततोंमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशका समन्वय है, उसी प्रकार कलाकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्तिमें 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'का अव्यभिचारी नियम पाया जाता है। इस त्रिकके साथ साहित्यमें भास, कालिदास और शंकरका सूत्र है। इस सूत्रत्रयीमें संक्षेपमें भारतीय कलाका सिद्धांत, इतिहास और साहित्यिक अनुप्राणन सब

कुछ सम्मिलित हो जाता है। वह इस प्रकार है—

सत्यम्	भिलसा	भास
सुंदरम्	अजंता	कालिदास
शिवम्	इलोरा	शंकर

यों तो सर्वत्र सब गुणोंकी उपस्थिति मिलती है, तथापि एक-एक के साथ एक-एक गुणका विशेष संबंध है। विदिशा और साँचीके स्तूपोंमें वस्तु स्थितिको चित्रित और प्रकट करनेकी ओर अधिक लक्ष्य है, उसमें सजावट और सौंदर्यकी जो कमी है, उसीका प्रतिबिम्ब भासके नाटकोंमें पाया जाता है। भासके नाटक कर्मप्रधान हैं, उनमें वस्तुग्रंथन बहुत समुदीर्ण है। पात्रोंमें सजीवता तो है, परंतु सौंदर्यकी कमी है। भासने अपने स्त्रीपात्रोंको भूषित, सज्जित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। परंतु कालिदासके स्त्रीपात्रोंमें जो शृंगार है, उसी की छटा अजंताकी प्रत्येक गुहामें है। इनके सौंदर्य-विधानके अध्ययनमें और अजंताके सौंदर्यीकरणसे उसकी तुलना करनेके लिये एक पूरे ग्रंथकी आवश्यकता है। भासके नाटक विदिशा और साँचीके स्थपति सम्राट् और तक्षकोंके आभ्यन्तरिक विचारोंका परिचय कराते हैं, तो कालिदासके काव्य अजंता-कलाके सर्वोत्तम व्याख्याता हैं। अजंताके साथ ही बाघके कला मंदिर भी हैं। उनके चित्रकारोंने सौंदर्यकी चाम व्यंजनाके उद्देश्यसे सुकुमार तूलिकाके द्वारा जिन चित्रोंको उन्मीलत किया, उन्हींको उन्मिषित करनेमें कुमारसम्भव और शकुंतलाके प्रणेता कालिदास का परम कौशल था। कुमारसंभवके प्रथम सर्गमें पार्वती

का वर्णन करते हुए कवि-कुलगुरुने साक्षात् लिखा है—'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्।' एक ओर पार्वतीकी उषःकालीन सुनहली कांतिका प्रकाश हो रहा है, दूसरी ओर कलाविदोंके काव्य और चित्र उसी शोभाको पदों और वर्णोंमें व्यंजित कर रहे हैं। कला विष्णुके इस चरणमें सौंदर्यकी उपासना प्रधान है। उस सौंदर्यमें आध्यात्मिकताकी मात्रा भी है, पर वह इस प्रकार छिपी हुई है जिस प्रकार मेघदूत, कुमारसंभव और शकुंतलामें काव्यके पीछे दर्शन छिपा हुआ है। काव्यके आनंदसे तृप्त हो जानेवालोंको उस मनोहर दर्शनका आस्वादन नहीं हो पाता, पर जो एक बार वहाँ तक पहुँच जाता है, वह सुन्दर और शिवके इस विलक्षण सम्मिलनसे सदाके लिये पराभूत होकर उसी अमृत-पानका इच्छुक बना रहता है। प्रथम सर्गका पार्वतीके सौंदर्यमें अभिमान है, वहाँ केवल सौंदर्यके कारण मोहकी सामग्री है। इसलिये पार्वतीने रूपके बल पर शिवजीको मोह लेना चाहा था, पर वैसा हो नहीं सका और शिवने कामको भस्म करके रूपके गर्वको खर्वित कर दिया। रूपको परास्त करके कविने नए सर्गावका तान छेड़ी—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

अर्थात् जब पिनाकपाणि शिवने मनोभव को भस्म कर दिया, पार्वतीके मनोरथ भी भग्न हो गए। चारुताके विफल होनेसे स्वयं पार्वतीने, जिसे कुछ क्षण पहले रूपका अभिमान था, अपने रूपको बहुत धिक्कारा। शिवात्मक तत्वसे विरहित सौंदर्यकी धिक्कृतिमें

कालिदासने भारतीय कलाके सर्वोच रहस्यको प्रकट कर दिया है। कलाको माह्य बनानेके लिये नए आयोजनका सूत्रपात हुआ और कविकी वाणीसे—

'इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः ।,

केस्वर गुंजारने लगे। प्रथम सर्गकी पार्वतीमें चमक-दमक बहुत है, पर उसमें तपस्याका तेज नहीं है। पंचम सर्गमें कविने पहली पार्वतीको तपाकर खूब निखारा है; अतमें समस्त मलीमसोंसे परिशुद्ध उनके दर्शनाही तेजको देखकर हमें अलौकिक आनंद और शांति प्राप्त होती है। ज्ञानी या ऋषिकी स्थितिमें पहुँचे हुए मनुष्य को भी पचम सर्गकी पार्वती आनंद दे सकती हैं।

इस प्रकार तपसे सँवारी हुई कला लोक-पराङ्मुख रहे, तो भी आनंद नहीं होगा। इसलिये अंतमें सप्तम सर्गकी पार्वती है, जिनके तपोऽवदात शरीरको कविने उसी प्रकार सजाया है, जैसे सुवर्णकार तपे हुए सोने पर अपनी कलाके सौभाग्यको निछावर करता है। प्रेम और संयमके रहस्य-तारतम्यकी व्याख्या करके भी कविने कलाकी प्रधानताको ओझल नहीं होने दिया। प्रथम, पंचम और सप्तम सर्गकी पार्वतीके तीन सूत्रोंको समझकर, 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का रहस्य अवगत करके अजंता-कलाका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को अपूर्व आनंदकी प्रतीति होगी।

विष्णुका तीसरा चरण इलोराके कैलास मंदिरमें रक्खा गया था। जिस शताब्दीने शंकरको जन्म दिया, उसीमें कैलास मन्दिर का निर्माण हुआ। शंकरके पूर्ववर्ती बाणभट्ट हैं, जिनके काव्यमें

सुन्दरताकी सामग्रीके भारावतः वर्णनकी पराकाष्ठा है। बाणभट्ट कलाभवनमें प्रवेश करके रोम रोमको सँवारना चाहते हैं। उनके वर्णनोंका अन्त नहीं है, वह अपनेही नेत्रोंसे हमें सब कुछ दिखाना चाहते हैं। यदि लोमश और मार्कण्डेयकी आयु हमें प्राप्त हो, तब कदाचित् हम बाणभट्टके सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला परमाणुओंका पूरी तरहसे ज्ञान करनेमें समर्थ हो सकें। कलाके प्रत्येक अणुको साक्षात् करनेकी प्रवृत्ति और प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मतत्वको पहचाननेकी प्रवृत्तिमें घनिष्ठ सम्बन्ध था। मूर्त्तिके साधक पाषाणका कोई अंश ऐसा नहीं था, जिसमें सौन्दर्य के दर्शन न होसकें, मानों प्रत्येक सूक्ष्मांश अंतर्वृत्त होकर अपने अंतःकरणके सारे सौन्दर्यको हमारे लिये प्रकट कर देना चाहता था। प्रत्येक पुरुषके भीतरभी आत्मतत्वकी खोज होरही थी। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कलाका निर्माता बड़ी समाधिके साथ एक एक अंगपर निदिध्यासन करता हुआ आगे बढ़ता है। इलोरा और एलिफेन्टाके कैलाशमन्दिरोंके स्तम्भोंमें ऐसी अनन्त सजावट भरी हुई है। उसकी व्याख्या बाणकी कादम्बरीमें है।

कला पुरुष जब इस प्रकार अंतर्वृत्त होकर अध्यात्म अन्वेषणमें तल्लीन था, उसी समय शङ्करने आकर एकही झपाटेमें 'अहंब्रह्मास्मिके' दुन्दुभिघोषसे मनुष्यको देव बना दिया। कलाविदों को साढ़ेतीन हाथकी प्रतिमाओंसे सन्तोष क्यों होने लगा? उनके मस्तिष्कके वामन पुरुषने त्रिपादरूप धारणकर लिया। उसके फल स्वरूप इलोराके विराट् कैलाश मन्दिरोंका निर्माण हुआ, जहाँके स्थपति मनुष्यको ब्रह्मबनाकर देखनेकी प्रतिज्ञाकर बैठे थे। दक्षि-

दुर्ग राष्ट्रकूटोंने शङ्करके सिद्धान्तोंको मूर्त्तिमन्त देखनेका संकल्प किया और कैलाश मन्दिरके विशालकाय दुर्घटदन्तियोंको गढ़कर तैयार किया। ब्रह्मके संस्पर्शसे आत्मामेंभी विभूति और ऐश्वर्य (Grandeur, Majesty) के भावोंका प्रादुर्भाव हुआ। कैलाश के दर्शन करनेवाले प्रत्येक यात्रीके मुँहसे विभूतिमान् और ऐश्वर्य-मान्, ये दो विशेषण अनायासही निकल पड़ते हैं। ब्रह्मात्मैक्य-वादके प्रचारसे बृहणताके तत्त्वको गौरव प्राप्त हुआ, फलतः मनुष्य के बौने आकारसे तिगुनी चौगुनी विशालतावाली प्रतिमायें बनने लगीं। मनुष्य देहके साधारण परिमाणमें बँधी हुई आत्मा वामन थी वही ब्रह्मज्ञान पाकर विराट् बनी। उसके विराट् परिधानको प्रकट करनेके लिये इलोराके कलाकोविदों ने सहर्ष प्रयास किया है। इस प्रयासमें स्वाभाविक चमक छिपी हुई है। कहीं भी कातरताका लेश नहीं है।

संसारके भारसे अभ्यासित आत्मा पहले दबी जाती थी, वही अब इस विपुल गौरव-भारको प्रसूनके समान धारण करती है। कैलाश-मन्दिरकी स्थापत्य-कला ऊपरसे देखने पर अस्वाभाविक जान पड़ती है, परन्तु दार्शनिक तत्त्वके साथ मिलाकर देखनेसे उसमें स्वाभाविकता की प्रचुर मात्रा मिलती है। यदि 'अहं ब्रह्माऽस्मि' का सिद्धान्त ठीक है, तो कैलाश मन्दिरसे बढ़कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति और हो ही नहीं सकती। दसवीं शताब्दी में इलोराके कैलाश-मन्दिरका अनुकरण करके, सागरमध्यवर्ती धारापुरी द्वीपमें (जिसे आजकल एलीफेन्टा कहते हैं) दुर्ग-

पर्वतोंका तक्षण करके एक दूसरे कैलाश-मन्दिरका निर्माण हुआ। इसके अलक्ष्य तोरण पर भी कलाकारने वही विभूति और ऐश्वर्य नामक (Transcendental) विशेषण लिख दिए हैं। इसके विपुल प्राङ्गणमें आश्चर्यमुग्धता से खड़े हुए शिव-शिव जपनेवाले दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह इस भवनसे ऊपर उठकर ब्रह्म भावके साथ अभिन्न हो रहा है (ब्रह्म भूयाय कल्पते ब्रह्म-भूयाय कल्पते) और तब वह उरुगाय विष्णुके विराट् रूपका ध्यान करके कह उठता है—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
तव विष्णो विक्रमस्योरुगाय न छवि ॥

श्लोकके बाद भारतीय कलाका ऊर्जित सत्व समाप्त हो गया। परन्तु कलामय विष्णुके ऐसा विचंक्रमणसे अब भी हमें शाश्वत आनन्द प्राप्त हो रहा है।

कला, काव्य और सौंदर्य

प्रसिद्ध फ्रेंच कवि विक्टर यूगो ने एक बार काव्य की बन्धन-हीन शक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि—

"Besides every thing is subject, every thing is dependent on art, every thing has the franchise in poetry. Ask nothing then, about the motive for taking the Subject-grave or gay, horrible or graceful, brilliant or sombre strange or simple-rather than any other ..... Art has nothing to do with leading trings, with handcuffs, with gags, it says "Go your ways", and lets you loose in the great garden of poetry where there is no forbidden fruit, space and trine are the dowains of art.

अर्थात् "कोई भी वस्तु काव्य का विषय हो सकती है। प्रत्येक वस्तु कला पर निर्भर है और कला में प्रत्येक का स्थान है। यह न पूछना चाहिए कि किस कारण से कोई विशेष विषय छाँटा गया-वह गम्भीर हो अथवा चटपटा, लावण्यमय हो अथवा भयानक, मनोहारी हो अथवा सीधा, अद्भुत हो अथवा साधारण .....। कला को नकेल, हथकड़ी अथवा मुख बन्धनसे क्या सरोकार? वह

तो तुम्हें उस मनोहर सुविशाल उपवन में लेजाकर छोड़ देती है जहाँ किसी भी फल के खाने का निषेध नहीं और कह देती है कि जीभर स्वच्छन्द विचरो। स्थान तथा समय तो उसीके आधिपत्य में हैं।" सचमुच कला तथा काव्य दोनों का साम्राज्य इतना असीमित है कि उसका छोर मिलना ही असंभव सा है। उपर्युक्त धारणा एक कवि की होते भी बहुत अंशों में सत्य है। किन्तु कला-विदोंका विचार कुछ विपरीत सा है। उनका कथन है कि कला का साम्राज्य सीमित शृंखला-हीन कदापि नहीं है। स्वयम् टाल्सटाय जिनसे बढ़कर कला-पण्डित १९ वीं शताब्दि में योरप में शायद ही कोई हुआ हो, कला के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि " The aim of art is beauty, that beauty is recognised by the enjoyment it gives, that artistic enjoyment is a good and important thing because it is enjoyment"अर्थात् "कलाका लक्ष्य सौन्दर्य है, और संसार में सौन्दर्य इसीलिए है कि वह आनन्द प्रदान करता है। कलाजनित आनन्द भला तथा आवश्यक इसीलिए है कि वह सुख देता है। " उपर्युक्त कथन से कला सौन्दर्य पर निर्भर जान पड़ती है क्योंकि यदि कला का ध्येय सौन्दर्य है तब तो यदि कला वस्तु सुंदर न हुई, तो कौड़ियों को भी महँगी है। स्वयम् यूगो के विशाल साम्राज्य का, किसी न किसी वस्तु पर आश्रित होना आवश्यक है क्योंकि अकारण अथवा निष्फल किसी का जन्म होना ही असम्भव है। यदि कला का कारण है तो यह निश्चयरूप से माननेको

बाध्य होना पड़ेगा कि उसका मुख्य ध्येय प्राणिमात्र को आनन्द प्रदान करना है।

इतना मान लेने पर यह समझनेमें देर न लगेगी कि संसारमें मनुष्य क्या देवताओंको भी सुन्दरता विमोहित करती है। यह दूसरी बात है कि वह सौन्दर्य भिन्न प्रकार का हो। इसी को संकेत करके पं० गिवाधार पाण्डेय ने कवि की दौड़ का वर्णन करते हुए कहा है कि—

> मिहिर मिलित सखि सिखासिखर हिमवत की बहरैं,
> प्रलय समुद की सुहद हिलोरें दुर्मद लहरैं,
> मुख-मुकुन्द की लसै ललित रेखा गोरोचन,
> किधौं राम को हृदय किधौं सीता के लोचन॥

अतएव वस्तु-सुखद हो अथवा दुखद, गंभीर हो अथवा चटकीली, सलौनी हो अथवा भयंकर, रुचिकर होनेके लिए सुन्दर होना आवश्यक है। यदि इसमें त्रुटि हुई तो प्रसिद्ध कलाविद् गूयो (Guvau) का यह कहना कि "कला सब के विश्वास, विचार तथा भावको एक ही तागेमें पिरो देती है और इसी द्वारा मनुष्य एकीयताके चक्करसे निकल कर सर्व देशीयता तक पहुँच जाता है" केवल शब्दाडम्बर रह जायगा। क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम के अतिरिक्त संसार में और कौन वस्तु है जो मनुष्य मनुष्य में नाता जोड़े, फिर पशु-पक्षी और प्रकृतिका तो कहना ही क्या? कहनेका तात्पर्य यह है कि कला तथा काव्य सौन्दर्यके ही आश्रित हैं, क्योंकि यही उनका जीवन तथा प्राण है।

सभी सौन्दर्य्य से पुलकित होते हैं, और यही कलाका लक्ष्य भी है। किन्तु इतना मानने पर भी लेखकका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। सौन्दर्य्यकी परिभाषा देना तथा विवेचन करना उतना ही कठिन है जितना कि काव्यकी कसौटी बनाना। सुन्दरताके सूक्ष्म होनेके कारण सौन्दर्य्याभास केवल मस्तिष्क द्वारा हो सकता है। और अब तक प्रत्येक विद्वान इसी लिए केवल अपने मस्तिष्कपटल पर अङ्कित भावोंके आधार पर ही परिभाषा देते आये हैं। स्वयम जर्मन दार्शनिक कैन्ट जोकि आधुनिक दर्शन शास्त्रके जन्मदाता माने जाते हैं, सौन्दर्य्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि—

Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and without pratical advantages pleases and in its objective meaning it is the from of an object suitable for its purpose in so far as that object is perceived without any conception of its utility.

अर्थात् "कर्तारूपमें सौन्दर्य्य वह वस्तु है जो अधिकाधिक मनुष्योंको अकारण ही बिना हानि लाभके विचारके ही प्रसन्न कर देता हो, और कर्मरूपमें उसी वस्तुका स्वरुप हो जो कि बिना हानि लाभके विचार आये ही चित्तको प्रसन्न कर सके" सारांशतः यदि किसी वस्तु अथवा व्यक्तिको देखकर मनुष्य वाह वाह कह उठे तो कैन्टके शब्दोंमें वह निस्सन्देह सुन्दर है। उदाहरणतः जाड़े-

के दिनोंमें यदि नदीके जल पर ओस विन्दुओंको गिरते कोई देखे तो बहुधा उसे ऐसा प्रतीत होगा कि नदीका जल लहरोंके रूपमें उठ उठ कर उन्हीं ओस विन्दुओंसे मिलनेको आतुर है और उन्हींसे मिलकर आकाश और पृथ्वी एक कर रहा है। कवि इकबालके शब्दोंमें—

हो दिल फरेब ऐसा कोहसार का नजारा।
पानी भी मौज बनकर उठ उठ के देखता हो॥

प्रकृतिका यह दृश्य प्रत्येक सहृदयको विमोहित कर देता है। निस्सन्देह आनन्दके अतिरिक्त इस दृश्यसे मनुष्यको और कोई लाभ नहीं फिर भी वह इसे इक टक देखता रहता है और अपनी हृदयगति इसीके भरोसे छोड़ देता है। इसी प्रकार वसन्तका आगमन है। कवि देव इस वसन्त-बालक का सौन्दर्य्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के
सुमन झंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं "देव"
कोकिल हिलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन
कञ्जकली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीपजू को बालक बसन्त ताहि
प्रात हिंते जावत गुलाब चटकारी दै॥

उपर्युक्त कथा केवल कवि-मस्तिष्ककी उपज नहीं है।

वसन्तके दिनोंमें जिस. किसीने भरे बागको देखा है वह अवश्य "कवि देव" से सहमत होगा। अथवा झीलके किनारे डेफोडिल्स का एकाएक मुस्करा देना किसको गुदगुदा नहीं देता? तभीतो वह् स्वयं कहते हैं कि—

The waves besides them danced, but they
Out did the sparkling waves in glee;
A Poet could not but be gay,
In such a jocund company,
I gazed and gazed but little thought
What wealth the show to me had brought.

अर्थात्—"किनारेही लहरोंका अद्भुत नृत्य हो रहा था, किन्तु डेफोडिल्सका आनन्दनृत्य उनसे कहीं अधिक मनोहर था। ऐसे साथियोंको पाकर कौन कवि-आनन्द मग्न न होगा। मैं तो देखताही रह गया। किन्तु उस समय यह कदापि न सोचा था कि कितनी अमूल्य वस्तु चुपकेसे वह मुट्ठीमें दे गयी"। सचमुच जिसने भी एक बार यह दृश्य देखलिया वह जीते जी क्यों भूलेगा। तभी तो जब कभी कवि इकले लेट जाता था तो ये फूल उसकी आखोंके सामने नाचने लगते थे और

And then my heart with pleasure fills
And dances writh the daffodils.

अर्थात्—"तब मेरा हृदय आनन्द-पूर्णहो उन्हींके साथ नाचने लगता है" इन तीनों वातावरणोंमें एकभी ऐसा नहीं जिसने दर्शकों

को सम्पत्ति प्रदानकी हो। हाँ, उनको देखकर जो कुछ मिला वह आनन्दही आनन्द था। इसी प्रकार जिस किसीने धुली चाँदनी में आगरेका ताज देखा है वह निःसंकोच कह सकता है कि उसके समीप पहुँचतेही हृदय स्वयम् नाच उठता है और रह रहकर यही इच्छा होती है कि सारा जीवन उन्हीं मौलसिरीके वृक्षोंके नीचे खड़े रहकर काट दें। साधारणतः यही गुण प्रत्येक सुन्दर वस्तुमें होता है, और इसी लिए कैन्टकी परिभाषा हर प्रकारसे मान्य है।

किन्तु इस परिभाषाको मान लेने पर भी कठिनाई कुछ कम नहीं होती। क्योंकि जिस आनन्दके आधार पर कैन्टकी इतनी बड़ी परिभाषाकी रचना हुई है वह स्वयम् इतनी गूढ़ है कि दार्शनिकों में आदिसे ही न जाने कितने मत फैला रखे हैं। इसका कारण भी है। आनन्दका उद्भव भिन्न भिन्न प्रकार से हो सकता है। कोई किसीके आकार पर रीझ जाता है, तो कोई उसकी आन्तरिक आत्मा पर और कोई दोनोंके संयुक्त होने पर। इसीसे फारसीमें दो शब्द "सूरत" और "सीरत" का जन्म हुआ है। स्वयम् कैन्टके प्रसिद्ध अनुयायी हीगल आत्मिक तथा दैहिक सौन्दर्य्य में भेद बताते हुए कहते हैं कि—

Beauty is the shining of idea through matter-only the soul and what pertains to it is truly beautiful and therefore the beauty of Nature is only reflection of natural beauty of the spirit-the beautiful-nas only a spiritual content.

क्योंकि एक तो कामातुर हो अपनी आत्मा मलिन कर बैठी और दूसरी अपने भावको सुन्दर बनाये हुए है। इसी प्रकार—

न सवाले बोसा सवने मुझे दस के दी जो गाली।
कि अदब के मारे मैंने न दिया जवाब सटा॥

वाला "मसहफी" का कामान्ध नायक सौन्दर्यहीन हो आँखोंसे गिर गया है। न तो उसके बोसा मांगनेमें कोई सौंदर्य और न माशूकाके गाली देनेमें कोई लावण्यता है। इसी स्थान पर "गालिब" की प्रसिद्ध पंक्तियाँ कि—

मैं गया उनके यहाँ तो गालियों का पया जवाब।
याद थी जितनी दुआएँ सारी दर्बां हो गयीं॥

नायककी महानहृदयता तथा सौंदर्यकी साक्षी हैं। अस्तु 'हीगल'-का कथनभी सत्य है। किन्तु आत्माके अप्रत्यक्ष होनेसे कठिनाई कुछ कम नहीं होती और इसको, स्वयम् हीगलने दूसरे शब्दोंमें माना है यह कहते हैं कि—

"But the spiritual must appear in the sensuous form. The sensuous manifestation of spirit is the only appearance (Schein) and this appearance is the only reality of beautiful"

अर्थात्—"आत्मिकताका साकार होना आवश्यक है, और यही साकार होना उसका प्रत्यक्ष होना है। यही वास्तविकताका प्रमाण है"। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि सौन्दर्य्यको सारूप्य होना आवश्यक है अन्यथा उसको मनन करना असंभव है। वास्तवमें

बिना स्थूल रूप देखे वस्तुका ज्ञानही असंभव है फिर सौन्दर्य्य-विवेचनका क्या ठिकाना ? इसी लिये तो राजपूत स्कूलके चित्र-कारोंने आकारही की शरण लेकर राग और रागिनीको चित्रित किया है। अथवा हीगलके शब्दोंमें "परमात्मा अपना वस्तुत्व प्रकृति तथा कला द्वाराही प्रमाणित करता है। और उसकी यह क्रिया दो प्रकारसे होती है-एक तो कर्तारूपमें, और दूसरे कर्मरूपमें-प्रकृति तथा आत्मामें।" वास्तवमें सौन्दर्य्यतो परमात्माका वह पुनीत कण है जोकि शरीर तथा आत्मा दोनोंमें विद्यमान है। तभी तो लोग परमात्माको सौन्दर्य्य और सौन्दर्य्यको परमात्मा कहा करते हैं। तबतो आकार तथा आत्मा दोनोंकी आवश्यकता है। क्योंकि बिना कर्मके कर्ताका वस्तुत्वही असम्भव है। यह विशेषता तो केवल परमात्माकी है जिसको सहस्रों जीवनकी खोजके बाद ऋषियों तथा मुनियोंने ढूंढ निकाला है और फिरभी जिसके वास्त-विक होनेमें कितनोंको अबभी सन्देह है।

यों तो सौन्दर्य्यानुभव संसारके समस्त पदार्थ तथा प्राणियोंमें होता है। वास्तवमें यदि ससारकी कुल वस्तुएँ एकही चित्रकारकी क्रियाएँ हैं तब तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि क्यों अमुक वस्तु सुन्दर है। चित्रकारतो कदापि अपने चित्रको सौन्दर्य्य हीन न बनायेगा। इसोलिये जर्मनीके तीसरे प्रसिद्ध दार्शनिक शेलिंग "अपरिमित" की "आत्मा" में ज्ञान होनेको सौन्दर्य्य कहा करते थे। अथवा उन्हींके शब्दोंमें—

Beauty is the perception of Infinite in

the finite Beauty is the contemplation of things in themselves as they exist in prototype.

अर्थात्-'परिमितमें अपरिमितका जन्मही सौन्दर्य है। सौन्दर्य्य तो आदि चित्रके अनुकरणकी सफलतादी का नाम है।" कहनेका तात्पर्य्य यह है कि सौन्दर्य्य परमात्माकी पुनीत झलक है और उसीके सदृश होनेसे वस्तु सुन्दर होती है। वास्तवमें शेलिंगका कोई नवीन मत नहीं। यदि सृष्टिकी रचना अनादि नहीं, तबतो हम लोग क्या, मामूली अणुभी क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर-से बने हुए हैं अथवा प्रकृतिके ही फूल पत्ते हैं। और प्रकृति वही तो रूपवाली एक तो बन्धनयुक्त और दूसरी स्वच्छन्द-हम लोगोंमें प्रतिबिंबित है। एक की छाया हम लोगोंके शरीर तथा भिन्न भिन्न बन्धनोंमें है, और दूसरी हम लोगोंकी आत्मामें हैं। इसी कारण संसारकी समस्त वस्तुएँ गुणानुसार दो भागोंमें विभाजित हैं—एक तो बन्धनयुक्त, नश्वर, अपूर्ण और बहुधा सौन्दर्य्य हीन हैं, और दूसरे अविनाशी, सम्पूर्ण, स्वच्छन्द तथा सुन्दर हैं। वस्तुका यही दूसरा भाग सौन्दर्य्य कहा जाता है। परन्तु इसके लिए प्रथमकी सृष्टि आवश्यक है। यही कारण है कि आत्मिक सौन्दर्य्यका विचार प्रथमतः वस्तुके शरीरसे उठा करता है।

उपर्युक्त बातोंसे चार बातें निर्विवाद सिद्ध हैं। प्रथमतः यह कि सौन्दर्य्य संसारकी प्रत्येक वस्तुमें मिल सकता है।

द्वितीय यह कि वह उस वस्तुकी आत्मामें ही व्याप्त है, तृतीय

यह कि विना आकारके उसका मनन करना असंभव है और अन्तिम यह कि सौन्दर्य्यका प्रधान गुण जीव मात्रको अकारण आनन्द प्रदान करना है।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि आनन्दके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं, आनन्द कई प्रकारका कहा जाता है। किन्तु बात यह नहीं है। संसारके सभी दार्शनिक इस बातपर सहमत हैं कि आनन्द सुखका पर्यायवाची नहीं है। वह तो सन्तोष-जनित वह भाव है जोकि कुछ क्षणके लिए प्राणी मात्रको स्वबन्धोंसे विमुक्त कर दूसरेही जगत्में लेजाकर छोड़ देता है। यह नाना प्रकारकी अवस्थामें प्राप्त होता है। कभी अपार सुखमें कभी घोर दुःखमें। यही कारण है कि दुखान्त नाटकोंके अभिनयको देखकर लोग सिसकियाँ तो भरते हैं फिरभी आनन्द-मग्न रहते हैं।

यदि यह सत्य है कि आनन्दके कारण नाना प्रकारके हैं, तब तो कारणानुसार सौन्दर्य्यानुभव भी भिन्न भिन्न पदार्थों तथा अवस्थाओंमें होगा। कभी तो किसी सलोनी रूपमती सुयौवनाके आकारमें सौन्दर्य्य दीख पड़ता है तो कभी किसी कृपणकी कृपणतामें। उदाहरणतः एक ग्वाल बालिका श्रीकृष्णके प्रेममें लीन हो अपनेपनको बिसार देती है और उन्हींसे मिलनेको आतुर हो इधर उधर मृगोकी नाई दौड़ती फिरती है। उसको इस विह्वलतामें आनन्द मिलता है। उसी चित्रको कवि पाठकों को भेंट करता हुआ कहता है कि—

देख दे देख वा ग्वालिन की मग,

नेक नहीं थिरता गहती है।
आनन्द सों "रघुनाथ" पगी,
पगी रँगन सों फिरतैं रहती है।
छोर को छोर तरौना को छ्वै कर,
ऐसी बड़ी छवि को लहती है।
जोबन आइवे की महिमा,
अँखियों मनो कानन सों कहती है॥

इसी प्रकार कोई सुन्दरी घरसे बाहर निकल पड़ी है। किन्तु शर्म इतनी हावी है कि किसीको भी नजर भरके देख नहीं सकती। उसीका इशारा करके "दाग" कहते हैं कि—

"किसी की शर्मालूदह निगहों में यह शोखी है।
इसे देखा उसे देखा इधर ताका उधर झाँका॥"

और कभी किसी युवतीके शरीरसे विमोहित हो कवि "लॉज" कहते हैं कि—

Her paps are centres of delight
Her breasts are orbs of Heavenly fame
Where Nature moulds the dew of light
So feed perfection with the same.

इसी प्रकार किसी कृपणने ख्यातिके लिए ब्रह्म-भोजका नेवता दे तो दिया, किन्तु विचार सदा यही रहा कि कहीं कुछ व्यय न हो जाय। स्वयम् बैठकर प्रत्येक प्रबन्धको देखता था। "कवि बेनी" इस कृपणतापर मुग्ध हो गये और कहही तो बैठे कि—

घेर चार चादर पछेरिक पिछान मोल्यो,
तापे धरे दोटे कोऊ खाने बड़ी पानी ना।
बहू को बुलाय मसलहत सिखाय कान,
पैठ जा रसोईं कोऊ परसे बेगानी ना।
"बेनी कवि" कहै कहा आवे आज याके यहाँ,
देखि सुनि परे कहूँ अन्न को निशानी ना।
कीन्ही मेहमानी जुर्‌यो पान औ न पानी कहैं आप,
बड़ो दानी कोऊ जानी कोऊ जानी ना॥

और स्वयम् उसको कृपणतापर समवेदना प्रकट करने लगे। उपर्युक्त उदाहरणोंमें तीन विशेषतः बाह्य सौन्दर्य्यके द्योतक हैं और इस प्रकारके आनन्दको विद्वान् *स्थूल व्यक्तिक आनन्द* कहा करते हैं। ये क्षण भंगुर हैं, सर्वदेशिक नहीं। आत्मा सुन्दर है या नहीं इस विषयकी इसमें खोज नहीं।

हाँ, यदि आत्मिक सौन्दर्य्य देखना हो तो बाह्य रूपको भेदकर हृदय तथा मनको उलट-पुलटकर देखना पड़ेगा और वह भी विचार तथा मनन द्वारा। इसी लिए इस प्रकारके सौन्दर्य्यको परखना अत्यन्त कठिन है। ऊपर दिए हुए उदाहरणोंमें चौथा उदाहरण आन्तरिक-सौन्दर्य्यका द्योतक है। उसी प्रकार श्मशानको जाते हुए किसी नवयुवकके शवको देखकर किसका कलेजा मुँहपर नहीं आ जाता। इसी प्रकारके भावोंमें सौन्दर्य्य कूट कूटकर भरा हुआ है। क्योंकि उसी सौन्दर्य्य द्वारा मनुष्य उस ब्रह्म पहुँच जाता है जो कि सौन्दर्य्यकी खानि है, और जिसको वेदान्ती सच्चिदानन्द

कहा करते हैं। इसी लिये कवि रोता है कि—

> झूँठ बना रख बाना अच्छर्थ सिपहियोंसे,
> दिल विरहका दलेंगे॥
> कफनी बड़ा पुरानी, छव रंग रसियों से,
> ले धार पर चलेंगे॥

अथवा "चकबस्त" की प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

> इक हस्तिये बेदारके हैं दोनों करिश्मे।
> मौजोंमें रवानी है जवानी है शरर में॥

सौन्दर्य्यके सितारपर मेजराबकी वह चोट लगाती हैं कि सारा संसार झङ्कृत हो तड़प उठता है। सचमुच अपनेपनको पहचान लेना क्या कुछ कम सुन्दर है? उन हसरतोंके हजूमका क्या ठिकाना कि—

> "जिस दम यह समझेगी कि मालूमही ख्वाब था।"

क्या वास्तवमें यह जीवन सब सपना ही है? किन्तु बातवो यही है। जिस कायाको इतना मलमल धोया और जिसपर ऐंठे हुए किसीको कुछ नहीं समझते थे वही सुन्दर शरीर जब चिता पर रखा गया तो—

> "हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।"

तभीतो इतनी बड़ी उदासी

> "सब जग जरता देखकर, भये 'कबीर' उदास।"

फिर हम लोगोंका क्या ठिकाना? यहाँ तो जिसका ध्यान—

> चमनकी बेसबाती पर जब उसका ध्यान जाता है।"

तो उसी शबनमके साथ चीख मार कर रो पड़ता है जो कि—

"तो क्या रोती है शबनम, मुँह पे रखके गुलके दामन को ॥"

उस समय तो अपनी हार मानकर—

उमंगें वे यौवन की आज,
व्ययाओंमें ले रहीं हिलोर,
कहाँ अब वह आमोद-प्रमोद ॥
कहाँ वन जाना प्रणय-विभोर ॥

वाला दृश्य आँखके सामने नाचने लगता है। किन्तु यही दिव्य ज्ञान तो अपूर्व "सौन्दर्य्य" है और यही "हीगल" का आत्मिक सौन्दर्य्य है। क्योंकि यहीं प्रकृति तथा आत्माका सम्मिलन होता है और यही सौन्दर्य्य चिरस्थायी है।

वास्तवमें जो वस्तु मनुष्यकी शक्ति तथा दुर्बलता दोनोंका ज्ञान करादे उसीको सच्चा सौन्दर्य कहना चाहिये। इसीलिये सभी देश-के दार्शनिक प्रकृति देवीकी शरण लेते हैं। इसका एक विशेष कारण भी है। हमारे जीवनके प्रत्येक पृष्ठ प्रकृतिकी ही मसिसे लिखा गया है। उसके प्रत्येक फूल या काँटे हमारे अनन्त जीवनके जीते-जागते इतिहास हैं। तभी तो शैलगल ऐसे महान दार्शनिकका अटूट विश्वास था कि वास्तविक सौन्दर्यका जन्म प्रकृति तथा प्रेम-के एकत्र होनेपर ही हो सकता है क्योंकि परमात्मामें यही दो गुण प्रधान हैं। मनुष्य तथा प्रकृतिमें एक अदृष्ट संबन्ध आदिसे ही स्थापित है। केवल समयके चक्करमें आधुनिक मनुष्य वह रूप धारण कर चुका है जिससे यह विश्वास ही नहीं होता कि कभी

वह भी प्राकृतिक था। अस्तु, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वास्तविक सौन्दर्य मनुष्यसे परे प्रकृतिके बेलि व विटप में, पुष्प व पत्तोंमें, नदी तथा पर्वतोंमें ही ढूँढे मिल सकता है। क्योंकि वहीं उसका जीवन अमर है। उसका जीवन गुलाबी गालोंपर निर्भर नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक कलाकार कलाका 'क' 'ख' प्रकृतिके ही अंचलमें बैठकर प्रारम्भ करता है। प्रातःकाल समीरका मन्द-मन्द चलना तथा फूलोंका शनैः शनैः खिलना किसके हृदयमें गुद-गुदी नहीं उत्पन्न कर देता। तभी तो कवि पुलकित हो कहता है कि—

> बादे सबा ग्यी फूँक क्या जाने कान में क्या।
> फूलें नहीं समाते गुन्चे जो पैरहन में।

सचमुच कुछ तो बात होगी कि जिसके कानमें पड़नेसे फूल खिल खिला पड़े। किन्तु यह मुस्कराहट कितने समय की? इसी का संकेत करके कविने कहा है कि—

> इस हरितमे गुलशन में अजब दीद है लेकिन।
> जब आँख खुली गुल की तो मौसम है खिज़ाँ का॥

इसी "लेकिन" ने ही तो संसारको क्या-क्या रंग नहीं दिखाये!

यदि ध्यानसे देखा जाय तो प्रकृतिका प्रत्येक पदार्थ अपने पारलौकिक सौन्दर्यका ज्वलन्त प्रमाण है। और यह समझना कि उनमें जोड़ नहीं अथवा रक्त संचारकी शक्ति नहीं नितान्त भ्रम है। जिसने "पायडेय" जीकी "बेला चमेली" वाली पंक्तियाँ एक बार

भी देखली है वह कदापि यह कहनेकी धृष्टता नहीं कर सकता कि फूल और फल मूक तथा निर्जीव हैं। देखिये उन्हींके शब्दों में—

बेला चमेली गोंवें सहेली
तान चली फैल आसमान।
फूल थारे झुटगये लट्टू हुए लुटगये
लुट गया कोयलों का मान।

इतनाही नहीं

केला नाचपाती, बनठन बराती
नाचें शराबियों की तौर।
आलू रतालू सौ-सौ के भ्यालू
नाचें अलग चुप चोर।

"लेकिन फूल आदि भी तो नश्वर हैं। भला यह नाच-रंग सदा कैसे रहेगा। इलीलिये तो—

इतने में पहली, सुन्दर सुनहली
चुपके किरन गयी पास।
कोई पिछड़ गये कोई पेड़ों चढ़ गये
भाग गयीं भाजियाँ उदास।
कलियाँ चटक गयीं चिड़ियाँ चटक गयीं
फैल गया पियो प्रकाश।

उपर्युक्त स्वप्न कितना मधुर है। यह कविके कला चक्षुओं द्वारा ही देखा जासकता है। बेला चमेली क्या प्रकृति के—

हर फूल और पत्ती में हैं छिपी मंजु प्रतिमायें।
कोमल गुलाब के दल पर, होती हैं प्रेम-कथायें।

नहीं तो जुहीकी कलीका आधी रातको नींदसे चौंकना, अलसना, मान करना तथा मुसकरा देना केवल कविकी कल्पना कही जा सकती है। किन्तु बात यह नहीं है। उसमें भी जीव है—और वह भी प्रेमरङ्गमें रङ्गकर प्रेमीसे बाहु पाश करती है। कवि "निराला" की "जुहीकी कली" इसीका प्रमाण है। उनका कथन कि "पवन" को—

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात—
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात—
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन गिरि कानन—
कुञ्जलता पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि कली खिली साथ।

कोई पागलोंका प्रलाप नहीं है। सचमुच वास्तविकता का वह सच्चा स्वरूप है जिसको सौन्दर्य्यान्वेषक ही ढूंढकर निकाल सकता है। पवनकी विरह वेदना, मिलनातुरता, तथा वेगपयान निम्या नहीं। इतना ही नहीं उसने आगे चलकर जुहीसे बाहु-पाश किया और ऐसा बाहु-पाश कि कितने प्रेमी तथा प्रेमिकायें लज्जासे सर झुका लेते हैं। कलीके पास पहुँचकर—

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की,

कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली
खेल रंग प्यारे संग।

इतने परभी यदि किसीका हृदय इसे सौन्दर्यका अनुपम चित्रण न कहे तो चित्रकारका क्या दोष ? सचमुच कवि "इकबाल" के शब्दों में—

रियाजे दस्तो के जर्रे जर्रे से है मुहब्बत का जल्वा पैदा।
हकीकते गुल को तो जो देखे यह भी पैमाना है रंगबू का॥

किन्तु यह कहना कि प्रकृतिमें सदा मिलन ही मिलन है, सुख की ही लूट है, सरासर झूठ है। क्योंकि वहाँभी प्रत्येक जुहीकी चोलीमें काँटोंकी झालर लगी है। इसीलिए फूल सदा हँसते नहीं दिखलायी पड़ते। देखनेवाले तो यह देखते हैं कि—

यह ऐश गह नहीं है यां रंग और कुछ है।
हर गुल है इस चमन में सागर भरा लहू का॥

और यह हो भी कैसे सकता है, जैसा कहा जा चुका है प्रकृति भी अनादि नहीं। यहाँभी फूल खिलते हैं और खिलकर मुर्झा जाते हैं और इसी अटूट नियमको पोषित करते हैं कि

पतझड़के बाद बसन्त और बसन्तके बाद पतझड़।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य केवल इतना है कि यदि वास्तविक सौन्दर्यका स्वाद लेना हो तो प्रकृति निरीक्षण करें। उसकी सुकुमारता, लावण्यता तथा मनोहरता वैसी है कि मनुष्यमें कहाँ मिलेगी। तभी तो कविगण यदि किसीके अंग विशेषकी तुलना करते हैं तो प्रकृतिके ही फूल फल और पत्तोंसे। जार्ज विदर्स किसी तरुणीके सौन्दर्य्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—

> Her cheeks were like the cherry
> Her skin was white as snow,
> When she was blithe and merry
> She angel like did show.

अर्थात्—"उसके कपोल चेरी ऐसे सुन्दर हैं, और उसकी देह हिमवत उज्ज्वल है और जब वह आनन्दमें थिरकने लगती है तो ऐसा जान पड़ता है कि आकाशसे अप्सरा उतर आई हो।" अथवा कविकी पंक्तियाँ कि—

> करिको चुराई चाल सिंह को चुराई लंक
> शशि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
> पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन
> दसन अनार हाँसी बीजुरी गंभीर की॥
> कहै कवि 'बेनी' बेनी ब्याल की चुराय लीनी
> रती, रती शोभा सब रति के शरीर की।
> अबतो कन्हैया जू को चितहू चुराय लीन्हो,

छोटी है मोटी या बोटी अहीर की॥

केवल इसीका उदाहरण है कि प्रकृति सौन्दर्य्य ही वास्तविक है। इसीलिए तो—

चमन में गुल ने जो कल दावे जमाल किया।
जमाले यार ने मुँह उसका खूब लाल किया॥

कह कर कविने कपोलोंकी लालीकी सराहना की है। अस्तु। सारांशतः यह कहना अनुचित न होगा कि सौन्दर्य्य सबको प्रिय होते हुए भी सब स्थानमें रहते हुए भी प्रकृति पर ही लट्टू है उसीके रूपको निरखकर भौरेंकी नाईं उसीमें प्रतिक्षण रहने को प्रस्तुत है। सौन्दर्य्य और काव्यका क्या संबन्ध है यह फिर कभी लेखक बताने की धृष्टता करेगा।

काव्य और चित्रणकला का समन्वय

Poets and Painters as all artists know,
May shoot a little with a lengthened bow.
—Lord Byron

विश्वमें जितनी सुन्दर कलाएँ हैं, उनका मूलस्रोत कोई अलौकिक अथवा दैवी वस्तु अवश्य है। इसीलिए सभी कलाओंमें अनिर्वचनीय सौन्दर्य विद्यमान रहता है। वैदिक ग्रन्थोंमें परमात्माको कवि बतलाया गया है और उसके काव्य 'वेद' को लक्ष्य कर कहा गया है—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अतः काव्यका उद्गमस्थान वही आदि पुरुष है। किन्तु परमात्माको केवल कवि ही नहीं, महान् कलाविद् भी कहा गया है। उसकी क्रियाओंके अनुकूल जहाँ उसके अन्यान्य स्वरूपोंका वर्णन प्राप्त होता है, वहीं उसे 'ब्रह्मा' अथवा रचनात्मक सृष्टिका संपादनकर्ता भी माना गया है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके अदृश्य हस्तका स्थायी कौशल मात्र है। इसीलिए काव्य और अन्य कलाएँ दैवी शक्तिसे उद्भूत हुई हैं। जब कवि एवं कलाकारके पदपर स्वयं परमपुरुष प्रतिष्ठित रहता है, उस समय उसके दिव्य गुणोंके अनुसार काव्य और कलामें प्रचुरताके साथ आश्चर्यमय दैवी तेजका आभास मिलता है। जब ये दोनों वस्तुएँ मानवीय पदपर पहुँच जाती हैं,

तब इनमें स्वभावतः दैवी प्रतिभाकी न्यूनता हो जाती है। यही दैवी और मानवीय काव्य तथा कलामें अन्तर है। किन्तु दोनोंका उद्गमस्थल समान होने के कारण दोनोंमें समानता मिलती है। इसी समानता की स्पष्ट विवेचना इस लेखका लक्ष्य भी है।

यों तो काव्य और चित्रणकलाके समन्वयके सम्बन्धमें बहुत से विद्वानोंने अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं, किन्तु होरेस (Horace) ने सबसे पहले बतलाया कि कवि और चित्रकार, दोनोंको ही अपने-अपने क्षेत्रमें समान स्वतन्त्रता (Licence) प्राप्त है। * इसी भावका लार्ड बायरन द्वारा किया हुआ अँगरेज़ी-रूपान्तर लेखके प्रारम्भमें दिया गया है। पुनः आगे चलकर समय और स्थान-भेदसे, अनन्य अवस्थाओं में काव्य और चित्रसे निष्पन्न परिणामका संकेत कर वही विद्वान् कहता है—कविता चित्रकलाके समान है। कुछ चित्र स्थान सामीप्यके कारण अधिक मनोरम दृष्टिगोचर होते हैं और उनमेंसे कुछ ऐसे भी होते हैं, जो दूरसे ही भले प्रतीत होते हैं। † होरेस ने इन कथनों द्वारा आजसे

---

* Pictoribus atque poetes,
Quidlibet andendi semper fuit acqua potestas.

† Ut pictura poesis: erit quae si propius stes.
Te capiat magis et quaedam si longius abstes.
Ib. 361.

कई हजार वर्ष पूर्व काव्य और चित्रकलाकी समानताका दिग्दर्शन कराया था। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय, तो कविता और चित्र-कलामें 'साधन' मात्रका भेद है। काव्यमें 'शब्द' साधन होता है और चित्रमें 'रंग'। किन्तु दोनोंका ध्येय अन्तरात्मा की सन्तुष्टि ही है। साधनभेदके कारण दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। इससे कबीर-की प्रसिद्ध उक्तिका स्मरण हो आता है—'नदिया एक घाट बहु-तेरे'। चित्रकार को कविकी अपेक्षा कम कल्पनाका आश्रय नहीं लेना पड़ता। कविकी भाँति उसेभी कितनेही अदृष्ट पदार्थोंका चित्रण करना पड़ता है। भगवान् बुद्धके नाम मात्रसे ही बुद्धभक्त कविकी मानस-तरंगिणीमें पवित्र स्फूर्जन होने लगता है, किन्तु बुद्ध-भक्त चित्रकारके सामने भी भगवान् तथागतकी कठिन तपस्या और कमनीय कान्तिमयी अप्सराओंके नग्न नृत्यका चित्र झलकने लगता है। दोनोंका तरल हृदय समान रूपसे उछलने लगता है और अपने भावोंको प्रकाशित करनेके लिए दोनों उतावले होजाते हैं। एक तो लेखनी और स्याहीका आश्रय लेता है, दूसरा अन्यान्य रंगोंसे भूषित डिब्बी और तूलिकाका। दोनोंके भाव-में समान वेग और मनोरम कल्पना होती है, किंतु भाव-प्रकाशन एकका शब्दोंमें और दूसरेका रंगोंमें होता है। एकको भाव प्रकाशनके अन्तस्तल तक पहुँचनेके लिए बुद्धि और कल्पनाका सहारा लेना पड़ता है; दूसरेके लिए बुद्धि और कल्पनाकी आव-श्यकता होते हुए भी, नेत्रसे ही प्रत्यक्ष करना पर्याप्त प्रतीत होता है।

सर जोशुआ रेनाल्ड्स (Sir Joshua Reynolds) नामक प्रसिद्ध चित्रकारने एक स्थानपर कहा है कि 'कविता और चित्र-कला दोनों ही समान भावों और शक्तियोंका प्रकाशन करती हैं,' भेद केवल साधन प्रयोगमें है। दोनोंका ही उद्देश्य मस्तिष्कके स्वाभाविक झुकाव और विचारके अनुकूल विकसित होता है। एक दूसरी जगहपर काव्य और चित्रणकलाको सहोदरा कलाएँ (Sister-arts) बतलाते हुए रेनाल्ड्सने प्रत्येकके पक्षमें उदाहरण उपस्थित कर यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कवि और चित्रकार दोनोंको अपनी-अपनी कृतियोंमें सौन्दर्य लानेके लिए समान रूपसे दृढ़ अध्यवसायकी आवश्यकता होती है; क्योंकि वे रचनाएँ, जो भावी संतानकी समालोचनाओंके संघर्षसे बचकर चिरस्थायिनी होनेके योग्य होती हैं सहसा नहीं निष्पन्न होतीं। उनमें एक-एक शब्द अथवा रेखाकी योजना अत्यन्त परिश्रमके साथ होती है। जब शनैः शनैः हृदय जलाकर उसकी आँचसे कवि अथवा चित्रकार अपनी कृतिको परिपक्व बना देता है, तभी उसपर अमरत्व की छाप लग जाती है; अन्यथा काल-तरंगिणीके थपेड़ोंमें कभी कविता और चित्रकी रेखाएँ घुलकर सर्वदाके लिए अदृश्य हो जाती हैं।

लेसिङ्ग (Lessing)-नामक एक अति प्राचीन योरपीय विद्वान्ने कविकी तुलना शिल्पकार और चित्रकार दोनोंसे की है, अन्तर केवल इतना ही कि कविका क्षेत्र अन्य दोनोंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। वह औरोंकी भाँति नियमोंसे अधिक

आबद्ध नहीं रहता। शिल्पकार किसी स्वरूपकी ठीक-ठीक नक़ल कर सकता है; चित्रकार रूप एवं रंगसे और एक कुशल अभिनेता रूप, रंग तथा अंग संचालन से आबद्ध रहता है, परन्तु एक भावुक कविकी कविताके सम्बन्धमें ये बातें समान रूपसे नहीं घट सकतीं। जहाँ तक बाह्य जगत्‌से सम्बन्ध है, वहाँ कविता और अन्य कलाओंकी परिगणना एक ही श्रेणीमें की जा सकती है, पर मानव-हृदयके भावमय क्षेत्रके ऊपर केवल कविताका अधिकार है, अन्य का नहीं। लार्ड मेकाले (Lord Macaulay) ने भी कविता-के सम्बन्धमें अपने विचारोंको प्रकट करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में उपर्युक्त भावोंको प्रकट किया है। वह इस प्रकार है—

The heart of the man is the province of poetry and of poetry alone.

अब हमें यह देखना है कि काव्य और चित्रणकलामें वे कौन सी विशेष बातें हैं, जो इन्हें समानताके स्थानपर अधिरूढ़ करती हैं। यहाँपर केवल मुख्य मुख्य बातोंको लेकर क्रमशः विवेचना की जायेगी। सर्वप्रथम कल्पना तथा तन्मयताको ही उपस्थित करना उचित जान पड़ता है, क्योंकि सभी कलाओंमें इसकी आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती है। प्रायः लोगोंका विचार है कि कल्पना केवल कविकी ही सम्पत्ति है; चित्रकारका उससे विशेष प्रयोजन नहीं है। पर यह बात सत्यकी सीमासे परे है। कवि और चित्रकार दोनों ही स्वर्गीय पक्षीकी भाँति कल्पनाके रंग विरंगे पंखोंपर उड़कर अमर्त्य एवं अपार्थिव सौन्दर्यकी खोजमें उन्मत्त-

हो जाते हैं। चित्रकारकी कलाकी पराकाष्ठा अनुकरण (Imitate) करनेमें नहीं है। यह तो वर्णनात्मक कविता (Descriptive poetry) की भाँति निकृष्ट कोटिकी कला है। शिल्पकारका चातुर्य इसमें नहीं है कि वह किसी वस्तुका प्रतिरूप बना दे। उसकी कला आदर्शरूप (जैसा कि यथार्थतः होना चाहिये) बनानेमें है। चित्रकार और कविके लिए भी यही बात है। यदि किसी कविको 'बुल बुल' के ऊपर कविता लिखनेके लिए कहा जाय, तो उसका कार्य बुल-बुलके रंग और आकार-मात्रका वर्णन करना नहीं होगा। उसका कौशल अत्यन्त गभीर है। उसे तो कीट्स (Keats) की भाँति पृथिवीसे आकाश तक मादक राग-रागिनियोंकी सहस्र मधुमय धारा बहाकर प्राणीमात्रको ओतप्रोत कर देना चाहिये। इसीमें वास्तविक काव्य-कौशल है। आकारमात्रके वर्णनमें तो कलाकी हत्या है। अस्तु, कवि और चित्रकार दोनों ही अपने निर्माण-साफल्यके लिए कल्पनाकी अवहेलना नहीं कर सकते। दोनों ही अपने मस्तिष्कमें खिंचे हुए कल्पनामय दृश्योंको चित्रित करनेके लिए उतावले हो उठते हैं। यदि शेक्सपियर अपने "As you like it" नाटकमें Rosalind की सौन्दर्यपूर्तिके लिए पृथिवीकी चुनी हुई अन्यान्य सुंदर वस्तुओंके उत्कृष्टतम भागको चुनकर कहता है—

Therefore Heaven Nature Charged
  That one body should be fill'd
With all graces wide enlarged

Nature presently distill'd
Helen's Cheek, but not her heart,
Cleopatra's majesty,
Atlanta's better part
Sad lucretias modesty.
Thus Rosalind of many parts.
By heavenly Synod was devised;
Of many faces, eyes and hearts,
To have the touches dearest prized.

तो दूसरी ओर ज्यूक्सिस (Zeuxis) ने भूलोकमें अपने हृदयके अनुकूल सौन्दर्य न पाकर, पाँच कमनीय कुमारियोंकी कल्पना कर सुन्दरी हेलेनाके उस सुन्दर चित्रका निर्माण किया, जिसे लोकविश्रुत वक्ता सिसरो (Cicero) ने अपनी 'आरेटर' (Orator)-नामक कृतिमें 'सौन्दर्यका परमपूर्ण आदर्श' कहा है। शेक्सपियरको (Rosalind) के रूपवर्णनके लिए पृथिवीमें कुछ पदार्थ मिलभी जाते हैं, किन्तु चित्रकारतो कल्पना-के उस विद्युत् वेगमय अश्वपर चढ़ना चाहता है, जो क्षण मात्रमें पृथिवीसे ओझल हो स्वर्गसोपान पर विचरण करने लगता है। मध्यकालीन योरपके सर्वोत्कृष्ट चित्रकार रैफल (Raffaelle) ने स्वचित्रित Galatea के सबंधमें Castiglione को निम्न-लिखित मार्मिक शब्दोंमें लिखा था—'किसी सुन्दर रमणीके चित्र निर्माणके लिए मुझे कितनी ही सुन्दरियोंकी अत्यधिक

न्यूनताके कारण मुझे विवश होकर उसी एक काल्पनिक रूपका उपयोग करना पड़ता है, जिसे मैं स्वयंही अपने मस्तिष्कमें खींच लेता हूँ'। इसी प्रकार एक दूसरे चित्रकारने भी अपने भावको व्यक्त किया है। उसका नाम Guido Reni है। 'सेंट माइकेल' (St. Michael) चित्रको रोम-नगरमें भेजते हुए रेनीने पोप अरबन ८ वें के एक विशेष पुरुष मसानोको लिखा था—'मेरे *हृदयमें यह अभिलाषा होती है कि मेरेभी देवदूतोंकी भाँति पंख* होते, जिनकी सहायतासे मैं स्वर्गमें पहुँचकर उन सौन्दर्यपूर्ण आत्माओंके कमनीय रूपोंका अवलोकन करता, जिनके अनुरूप मैं अपने चित्रको बनानेकी चेष्टा करता। किन्तु इतनी ऊँची जगह तक पहुँचनेकी क्षमता न होनेके कारण मेरे लिए वैसा रूपका आदर्श खोजना असंभव बात थी। अतः विवश होकर मुझे अपने मस्तिष्कमें उस काल्पनिक सौन्दर्यका अतर्निरीक्षण करना पड़ा, जिसे मैंने स्वयं सोच रक्खा था।'

इन बातोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चित्रकारके कौशलमें कवि की अपेक्षा कल्पनाको कम स्थान नहीं दिया जाता। दोनोंके ही हृदयमें कल्पनाके घोड़ेपर चढ़नेके लिए समान अभिलाषा रहती है। यहाँ तक तो रही कल्पनाकी बात। अब लीजिए तन्मयताको। कवियोंकी तन्मयताके संबंधमें सैकड़ो कहानियाँ एवं किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। कविता-सुन्दरीकी मधुमयी मादक कमनीयता पर रीझकर कितने ही कवियोंने कितने ही दिनों तक आहार और विहार तक त्याग दिया है, किन्तु ऐसी घटनाएँ चित्रकारोंके संबंध-

में कुछ कम सुननेमें आती हैं। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। चित्रकारभी अपने चित्रको हृदयस्थ भावोंके अनुकूल बनाने के प्रयासमें समान रूपसे ही तन्मय दीख पड़े हैं। यहाँपर पाठकों के मनोरंजनार्थ अपने एक चित्रकार-मित्रके विचित्र अनुभवको उपस्थित करना अनुचित न होगा। उक्त महोदय एक लब्धप्रतिष्ठ बंगीय चित्रकार हैं, जिनकी चित्रकला-संबंधी शिक्षा भारतके अतिरिक्त इङ्गलैंड तथा अमेरिकामें भी हुई है। एक दिन हम लोग कई मित्र बैठे हुए नृत्य, वाद्य, आलेख्यादि ललितकलाके संबंधमें बातचीत कर रहे थे। क्या प्राचीन यूनानी कलाविद्, क्या आधुनिक अँगरेज, फ्रेंच तथा भारतीय चित्रकार, सभी हम लोगोंके सिंहावलोकन के शिकार हुए। प्रसगवश उक्त चित्रकार महोदयने अपनी किशोरावस्थाकी एक बड़ी सुन्दर एवं भावपूर्ण घटनाका उल्लेख किया। उसका सारांश यह था कि अपनी किशोरावस्थामें उन्हें प्रलयका चित्र खींचनेके लिए प्रबल इच्छा हुई। अतः उन्होंने दत्तचित्त होकर इस कार्यका श्रीगणेश किया। पहले उन्होंने तूलिका से कुछ रेखाएँ बनायीं। इसके अनन्तर वह आँखें मूँदकर काल्पनिक प्रलयका स्वरूप स्थिर करने लगे। धीरे-धीरे वह कल्पनाके क्षेत्रमें इतने आगे बढ़ गये कि उन्हें न तो तूलिकाका ध्यान रहा और न चित्रपटका। कुछ देर पश्चात् नौकरने कमरेमें प्रवेश कर भोजन करनेके लिये कहा, किन्तु वह सर्वथा तटस्थ रहे। कुछ फल और दूध लानेका आदेश देकर फिर उसी 'प्रलयचिंतना' में मग्न हो गये। इस अवस्थाका ज्ञान उनकी माताको हुआ। वहभी

चित्रकलामें पटु थीं। वास्तवमें उन्होंने ही अपने पुत्रको चित्रकला संबन्धी प्रारम्भिक शिक्षा दी थी। उन्होंने अपने पुत्रको अन्यमनस्क करनेका प्रयास किया, पुत्रने भी दिखानेके रूपमें कुछ किया, किन्तु हृदय तो दूसरी चिंतामें चूर होरहा था। इसी प्रकार लगभग ७-८ दिन बीत गये और चतुर माताको अपने पुत्रको स्थान-परिवर्तनार्थ दूसरी जगह भेजना पड़ा। यह घटना उपन्यास की बात नहीं, अपितु सत्य है। चित्रकार महोदय अभी जीवित हैं, और जिस समय वह आँखें चढ़ाकर उक्त घटनाका मर्मस्पर्शी वर्णन करते हैं, उस समय रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रगण टूटकर मानों उत्तुङ्ग समुद्र लहरोंमें डूबते हुए, एक ओर से दूसरे छोर तक पृथिवी काँपती हुई तथा प्रगाढ़ अंधकारमें करोड़ों नरमुंड जलराशि पर तैरते हुए प्रतीत होते हैं। तन्मयता-का इससे सुंदर और क्या उदाहरण हो सकता है। अतः कवि और चित्रकार दोनोंके ही जीवनपर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनोंमें कल्पना और तन्मयताकी प्रचुर मात्रा विद्यमान रहती है।

कविता और चित्रणकलामें दूसरी समान बात अनुकरण (Imitation) की है। चाहे कैसीही कविता अथवा चित्र हो, उसमें अनुकरणका कुछ-न-कुछ अंश अवश्य विद्यमान रहेगा। कवि और चित्रकार दोनोंही अपनी कृतिके पूर्व-मानसिक रूपकी कल्पना कर लेते हैं और उसीके प्रतिरूप निर्माणमें अपने शब्द और तूलिका-रंजनका कौशल प्रकट करते हैं। जितनाही वे अपने

काल्पनिक रूपका यथार्थ चित्रण कर पाते हैं, उतनी ही उनकी अधिक सफलता समझी जाती है। इसीलिये प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि काव्यमें भी चित्र विद्यमान रहता है। यहाँ दूसरे चित्रसे नहीं, भावमय चित्रसे ही प्रयोजन है। वे कवि असफल समझे जाते हैं, जो किसी भावको पूर्णतः व्यक्त न कर सकनेके कारण अपनी कवितामें सुंदर सजीव चित्र नहीं खींच पाते। आधुनिक विश्व कवि समाजके पूज्य आचार्य श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके काव्यमें अन्य विशेषताओंके अतिरिक्त पूर्ण एवं आदर्श चित्रण रहता है। कहीं भी अधूरापन अथवा अस्पष्टताका दोष नहीं रहता। यह बात हिन्दीके छायावादी कवियोंकी श्रेणीमें कुछ लब्धप्रतिष्ठ कवियोंकी कृतियोंको छोड़कर अन्यमें नहीं प्राप्त होती। उन्हें अस्पष्टता दोषमें ही काव्य सार्थक जान पड़ता है। वस्तुतः छायावादकी कविताका यह आदर्श नहीं है। कविता गूढ़-से-गूढ़ विचारों तथा स्वर्गीय कल्पनाओंसे भले ही विभूषित हो, किन्तु उसमें चित्रकी पूर्णता (Perfect painting) होनी चाहिए। काव्य जहाँ सदिग्ध एवं अस्पष्ट हुआ, वहाँ उसकी मनोहरता जाती रहती है। यही बात चित्रणकलाके संबंधमें भी है। किसी चित्रको रेखाबद्ध करनेके पूर्व मनमें काल्पनिक चित्र (Imaginary picture) की स्थापना करना आवश्यक है, और उसी चित्रके यथार्थ चित्रणमें ही कौशल है। यही 'अनुकरण' का रहस्य है।

इस संबंधमें यूनानी विद्वानोंके विचारोंको उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वानोंकी श्रेणीमें यूनानी समा-

लोचकही अत्यन्त प्राचीन और योरपकी अन्य भाषाओंकी ललित-कला-संबंधी आलोचनाओंके आदि स्थल हैं। वस्तुतः आधुनिक अँगरेजी-साहित्यिक-समालोचनाकी वृद्धिका श्रेय यूनानी भाषाको ही है। अतः यूनानी समालोचकोंकी विचारधाराका निरीक्षण करना उचित है। यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक और साहित्यिक व्यक्ति अरस्तू (Aristotle) ने अपनी Poetics पुस्तकमें आलंकारिक सिद्धान्तोंकी स्थापना करते हुए 'अनुकरण' का काव्यकी आधारशिला बतलाया है। उसकी सम्मतिमें कविता एवं संसारकी अन्य सभी कलाओंमें प्रकृतिका अनुकरण है। यहाँ प्रकृति शब्दसे केवल मनोरम दृश्यादिसे तात्पर्य नहीं है। यह कालचक्रके समान अत्यन्त व्यापक शब्द है। प्रकृतिसे दृश्यमान् एवं अन्त-जगत् सभीका बोध होता है। इसी प्रकृति-विश्लेषणके आधार पर काव्य और चित्रकला दोनो ही अवस्थित हैं। कवि और चित्रकार दोनों सर्वप्रथम कर्तव्य प्रकृतिमें उस सुन्दरतम वस्तुको ढूँढना है, जो उनकी कलाके उपयुक्त हो। कारण, यह निश्चय है कि जो वस्तु अत्यन्त सुन्दर होगी, तत्संबंधी विषय भी उच्च एवं मनोरम होगा। अतः इसी प्रकृतिके उत्कृष्टतम विषयोंके चित्रणमें दोनों ही कलाओंकी पूर्णता है। जो कविता या चित्र प्रकृति-सादृश्यके जितने ही निकट पहुँचे, उतनी ही उसकी उत्कृष्टता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अमुक वस्तु, अमुक कविता या चित्रमें मुझे प्रिय है, इसलिये यह अच्छी कविता या चित्र है। वस्तुतः यह देखना चाहिये कि कौन-सी वस्तु

प्रसन्नता देनेके उपयुक्त है। कला-संबंधी हमारी प्रवृत्तियाँ ऐसी कुरुचिपूर्ण हो गयी हैं कि हममें सच्ची कलाके परीक्षणका ज्ञानही नहीं रहता। इसलिए बहुत-सी ऐसी कला संबंधी वस्तुएँ, जिन्हें हम प्रकृति-सादृश्यकी पराकाष्ठापर पहुँची हुई समझते हैं, वास्तवमें उससे कोसों दूर होती हैं। ड्राइडेन (Dryden) ने कहा है कि 'हमारे निर्णयको दृढ़ करने और रुचिको सुधारनेके लिए कितने ही नियमोंका आविष्कार हुआ है, जिससे हम इतना ज्ञान प्राप्त कर सकें कि कहाँ पर किस हद तक प्रकृति-सादृश्य है। अतः काव्य और चित्र दोनोंही में प्रकृतिका अनुकरण (Imitation of Nature) प्रसन्नताका साधन है। अरस्तूने इसका कारण भी बतलाया है। वह कहता है—

Imitation pleases, because it affords matter for a reasoner to enquire into the truth or falsehood of imitation by comparing its likeness with the original.

अर्थात्—अनुकरण इसलिये प्रिय है कि उससे एक तार्किकको मूल-वस्तुसे सादृश्य अथवा असादृश्यताकी तुलना कर उसकी (अनुकरण की) यथार्थता अथवा असत्यताके परीक्षणके लिये सामग्री मिल जाती है।.

हमारे सभी सत्प्रयत्नोंका अंतिम लक्ष्य 'सत्य' की प्राप्ति है, अतः इसीके ढूँढनेमें, परमानन्द है। चूँकि प्रकृतिके सच्चे ज्ञानसे हमें आनंद मिलता है, इसलिए कविता अथवा चित्रमें उसका

सजीव अनुकरण (Lively Imitation) अधिक आनन्द-का कारण होता है। यहाँ इस बातपर ध्यान देना उचित है कि उक्त दोनोंही प्रकृतिके नहीं, अपितु उसके सर्वोत्कृष्ट भागके अनुकरण हैं, जिसमें सौन्दर्य और शालीनताकी सीमा होती है।

अनुकरणके उपर्युक्त विवेचनसे यह तात्पर्य नहीं कि कलाविद् मौलिकताको तिलांजलि दे दे। इससे तो काव्य और चित्रमें सौन्दर्यकी अपेक्षा कुरूपता आजायगी। जो कवि या चित्रकार अपने कल्पना-अश्वको न दौड़ाकर केवल किसी वस्तुका अनुकरण कर देता है, उसकी प्रतिभा श्लाघ्य एवं सफल नहीं कही जा सकती। नूतन कल्पना तथा आविष्कार, दोनोंही के लिये परम आवश्यक वस्तुएँ हैं, किन्तु अद्यावधि इसके हस्तामलक करनेके लिए न तो नियमोंका निर्माण हुआ है और न किया ही जा सकता है। हाँ, कल्पनाशक्ति की अभिवृद्धिके उपाय पुस्तकोंसे जाने जा सकते हैं। वस्तुतः मौलिक भावोंसे शून्य चित्रकार केवल नक़्क़ाल है और कवि साहित्यिक चोर है। मौलिकताहीन कवि ही साहित्यिक चोरी (Plagiary) का अपराधी होता है उसी-के विषयमें संस्कृत अलंकार-ग्रंथोंमें कहा गया है—'कविर्वांन्तं समश्नुते'। चित्रकार और कवि दोनोंको कभी कभी नक़ल और अनुवाद करनेकी स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु इसमें उनका सच्चा यश नहीं है। किसी कविने कहा भी है—

Imitators are but a servile kind of cattle.

अर्थात् अनुकरण करनेवाले एक प्रकारके आज्ञाकारी पालतू

जीव हैं। उनके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं होती, जिसे वह अपनी कह सकें। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि कोई मनुष्य कुशल चित्रकारकी पदवीको उसी समय प्राप्त कर सकता है, जब उसमें मौलिक कल्पनाकी प्रचुर मात्रा विद्यमान हो। एपोलोनियस टीनियस (Apollonius Tyanaeus) ने भी कहा है 'चित्रकारको अनुकरणकी अपेक्षा कल्पनासे अधिक शिक्षा मिलती है; क्योंकि अनुकरणके द्वारा तो केवल दृश्यमान पदार्थोंका ही निर्माण हो सकता है, किन्तु कल्पनाकी सहायतासे अदृष्टपूर्व वस्तुओंकी रचनाकी जा सकती है।' प्रकृतिमें जैसे पदार्थ उपलब्ध होते हैं, ठीक उसीका चित्रण करना उत्कृष्ट कलाका परिचायक नहीं है। प्राकृतिक वस्तुमें जहाँ न्यूनता हो, वहाँ पूर्ति कर उसका चित्रण करना उपयुक्त है, और यहीं मौलिक प्रतिभाकी परीक्षा भी होती है। प्राचीन यूनानी शिल्पकार लिसिप्पस (Lysippus) को इस बातका बड़ा अभिमान था कि वह मनुष्योंकी प्रतिमा, जैसी वास्तवमें होनी चाहिए (As they ought to be) वैसी ही निर्मित करता था। कवि और चित्रकारके संबंधमें यही सिद्धान्त अरस्तूका भी है। वह उन साधारण शिल्पकारोंको बड़ी हीन दृष्टिसे देखता था, जो मनुष्योंकी रचना वैसी ही करते थे, जैसे वे प्रकृतिमें पाये जाते हैं। यहाँ लिसिप्पसके विचारोंकी अवहेलना कदापि नहीं की जा सकती है; क्योंकि यह वही शिल्पकार है, जिसके संबंधमें स्वयं सिकन्दरने यह घोषणाकी थी कि 'शिल्पकारोंमें लिसिप्पस और चित्रकारों

में अपेलीज (Appelles) को छोड़कर मेरी प्रतिमा अथवा चित्र बनानेका किसी अन्यको अधिकार नहीं है। लब्धप्रतिष्ठ यूनानी शिल्पकार फिडियासने वीरों और देवताओंकी ऐसी मनोरम प्रतिमाओंका निर्माण किया, जिन्हें देखकर लोग आश्चर्यमें पड़जाते थे। इसका एक-मात्र कारण यह था कि वह अपने मस्तिष्कमें खिंचे हुए पूर्ण एवं आदर्श चित्रके अनुरूप प्रतिमाओंका निर्माण करता था, न कि प्रकृतिकी नक़ल। एक लेखकने यह सत्यही कहा है कि कवि, चित्रकार और शिल्पकार, तीनोंही के लिए अबाध रूपसे प्रकृतिकी अपेक्षा Idea का अनुकरण करना श्रेयस्कर है।

सोफोक्लीज (Sophocles) सर्वदा मनुष्योंका चित्रण वैसाही करता था, जैसा वास्तवमें उन्हें होना चाहिए था। अर्थात् जैसे वे वास्तवमें होते थे, चित्रण उससे सुंदर होता था। इसी भावको प्रसिद्ध अँगरेज कवि गोल्डस्मिथ (Goldsmith) ने भी अपनी 'रिटैलियशन' (Retaliation)-नामक कवितामें व्यक्त किया है—

A flattering painter who made it his care,
To draw men as they ought to be, not as they are.

अतः काव्य और चित्रणकलामें अनुकरण आधार-भित्तिस्वरूप है और 'कल्पना' उसको सजानेवाला अनुपमेय पदार्थ है।

काव्य और चित्रमें समान रूपसे रहनेवाली तीसरी

अलङ्कार और रीति । काव्यमें तो अलंकारादि प्रसिद्धही हैं, किन्तु चित्रणकलामें भी इनका उसी प्रकार समावेश है। जिसप्रकार एक सफल कवि चमत्कारपूर्ण अलंकारोंसे अपनी कविताको मनोरम बनानेकी चेष्टा करता है, उसी तरह एक कुशल चित्रकार भी आकर्षक दृश्यों और आभरणों द्वारा अपने चित्रकी शोभा बढ़ाता है। जैसे काव्यमें सुंदर शब्दविन्यास अथवा रीति विद्यमान रहती है, वैसेही चित्रमें भी कोमल रेखाओंका दिग्दर्शन होता है। इसी प्रकार और भी आलंकारिक साम्य हैं, जिनका निर्देश आगे चलकर किया जायगा।

यदि यहाँ अलंकारोंके उद्भवके इतिहासके सम्बन्धमें विचार किया जाय, तो वह असंगत-सा प्रतीत होगा। किंतु थोड़ा सा प्रकाश डालना अनिवार्य है। वेदोंसे लेकर आजतक जितने काव्य-ग्रन्थोंकी रचना हुई है, उन सबमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारोंका समावेश है। पिंगल आदि छन्दःशास्त्रके ग्रन्थोंके अनुकूल ही सब जगह वृत्त और मात्राओंका विचार है। इसी प्रकार बौद्धकालीन शिल्प तथा चित्रकलाके पूर्व एवं पश्चात् भी देवों, यक्षों और अर्धनागोंकी चित्रावलीमें विशेष नियमोंका परिचय मिलता है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि शनैः-शनैः ज्यों ज्यों कलाका विस्तार बढ़ता है, उसीके अनुरूप नियमोंका बाहुल्य भी होता जाता है। जहाँ प्राचीन समयमें उपमा रूपकादि इने गिने ही अलंकारोंसे अलकार-शास्त्रका श्रीगणेश हुआ, वहाँ अब सैकड़ों अलकारोंकी रचना होनेपर भी कितनेही आधुनिक अलंकारिकों

को संतोष नहीं है। इसी प्रकार अति सुदूरकालमें भी भारतमें चित्रणकलाके नियम बनाये गये थे, जो काव्यके अलंकार शास्त्रकी भाँति चित्रणकलाकी पथ-प्रदर्शकताके लिए आवश्यक थे। अस्तु। जहाँ काव्य, शिल्प, संगीत, नृत्य आदिके नियमोंका उद्घाटन हुआ, वहाँ आलेख्य (Painting) भी अछूता नहीं बचा। प्राचीन कालमें चित्रणकलाके संबंधमें 'षडंग' बहुतही प्रसिद्ध नियम है। इसीके आधारपर चित्रणकलाके संबंधमें बहुतसे नियमोंकी रचना हुई। महर्षि वात्स्यायनने अपने कामसूत्र नामक ग्रन्थमें प्राचीन ग्रंथोंके आधारपर निम्न-लिखित रूपमें षडंगका उल्लेख किया है।

१ रूपभेद—इसके अंतर्गत रूपके परिचय प्राप्त करनेका आदेश है। प्रकृतिका अध्ययन, आकारका ज्ञान एवं दृश्य आदि सभी-का निर्देश रूप-भेदसे होता है। इसका सुंदर उदाहरण बौद्धकालीन रचनाओंमें है, जहाँ पर चित्रकला-संबंधी नियमोंका पालन सावधानीसे किया गया है।

२ प्रमाणम्—इसमें चित्रोंकी माप एवं आकारकी शिक्षा दी गयी है। इस नियमका पालन अजंताके चित्रोंमे भली भाँति किया गया है।

३ भाव—भिन्न-भिन्न भावोंका जो शरीर पर प्रभाव पड़ता है, उसके अनुकूल चित्रण करना। इसमें भी बौद्धकालीन चित्रकार अत्यन्त कुशल थे।

४ लावण्य योजनम्—इससे सौंदर्य, लावण्य, मन मोहिनी

रेखादिकी शिक्षा मिलती है।

५ सादृश्यम् (Similitude)

६ वर्णिकाभङ्ग—तूलिका और रंगका कलाकी दृष्टिसे प्रयोग करना। इस नियमका पालन विशेषतः 'टैगोर-स्कूल' के आधुनिक बंगीय चित्रकार कर रहे हैं।

चित्रणकलाके उपर्युक्त ६ नियम केवल भारत तक ही नहीं सीमित रहे। इन्हीं नियमोंकी प्रतिध्वनि चीनके चित्रणकला-संबंधी नियमोंमें मिलती है। छठी शताब्दीमें चीनके सेइ हो (Hseih-Ho) ने भी इन्हीं ६ नियमोंका प्रथमबार उल्लेख किया था, जिसे देखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इसका मूलस्रोत भारतवर्षके सिवा और कोई दूसरा देश नहीं है। बुद्धकालके पूर्व भी भारतमें चित्रणकलाके नियम वर्तमान थे, जो चित्र-लक्षण नामसे प्रसिद्ध थे। इन्हीं नियमोंके द्वारा मुख, केश, भावभंगी आदि सभी बातोंका ज्ञान चित्रकारको प्राप्त होता था।

काव्यमें अलंकारोंके विशेष नियम हैं। प्रत्येक स्थानपर असंगत रूपसे अलकारोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। जहाँ आवश्यकता है, वहीं उसके प्रयोग करनेमें शोभा है। यही बात चित्रकारके लिए भी है। चित्रकी रचना करते समय उसे इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कोई ऐसी अनुपयुक्त वस्तु न आ जाय, जिससे सौन्दर्य-वृद्धिकी अपेक्षाकृत हानि हो। कविको भी उन पदार्थोंका सर्वथा त्यागकर देना चाहिए, जिनसे कविताका संबंध न हो। जिस प्रकार फीलपाँव अथवा पेच रोगसे ग्रस्त

मनुष्यके शरीरमें अधिक मांस उसकी शोभाको नष्टकर देता है, वैसेही असंबद्ध पदार्थोंके प्रयोगसे कविता एवं चित्रकी खूबसूरती जाती रहती है। अलंकारका प्रयोजन शोभाको बढ़ाना है। जो अलंकार भार-स्वरूप हो, वह अपने नामके विपरीत गुणवाला है। यदि २० सेर चाँदीके आभूषण बनवाकर किसी स्त्रीके शरीरका सब भाग ढाक दीजिए, तो गँवार स्त्रीको प्रसन्नता भलेही होगी; किन्तु कोई अच्छी रुचिवाला मनुष्य इसे पसंद नहीं कर सकता। उसे तो दो-एक हलके सुवर्णके आभूषणोंसे सुसज्जित रमणी ही सुन्दर जँचेगी। यही बात अलंकारोंके संबंधमें भी है। उनके उचित प्रयोगमें ही उनका सार्थक्य है। इसीलिये चित्रकारको निर्दिष्टकर यह नियम बतलाया गया है—

A painter must reject all trifling ornaments.

अर्थात् चित्रकारके लिए सभी छोटे-मोटे आभूषणों (सजावट की वस्तुओं) का परित्याग करना आवश्यक है। कविको भी अपनी कवितामें असबद्ध एव लंबे वर्णनको त्याग देना उचित है। अस्तु, उपर्युक्त पंक्तियोंके अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि काव्य एवं चित्रणकलामें अलंकार एवं रीति समानरूपसे हैं और उनके प्रयोग तथा वर्जनके संबंधमें भी नियमोंका आदेश है।

काव्य और चित्रणकलामें भी चौथी समान बात प्रकृतिका अध्ययन है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि 'प्रकृति' शब्द से यहाँ बाह्य और अंतर्जगत् दोनोंका बोध होता है!

अध्ययन कवि और चित्रकारके लिये अत्यन्त आवश्यक है प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् फिलास्ट्रेटस (Philostratus) ने अपनी फ़िगर्स (Figures) कवितामें प्रकृतिके संबंधमें इतने सुन्दर भावों को व्यक्त किया है कि उन्हें यहाँ उद्धृत करनेका लोभ-संवरण नहीं किया जा सकता। वह कहता है—'वास्तवमें जो चित्रकला संसारके ऊपर पूर्ण आधिपत्य जमाना चाहता है, उसे सर्वप्रथम मानव प्रकृतिका अध्ययन अवश्यकर लेना चाहिए। वह ऐसी प्रतिभासे युक्त हो, जिससे वह चित्रित किए हुए पदार्थोंके अंतःभावोंके लक्षण सरलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सके और गूँगेका भी ऐसा चित्रण करे कि मानों वह बोलनेही वाला है। उसे इस बात को हृदयमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि कपोलोंकी बनावट, आँखोंके भाव, भौंहोंकी स्वाभाविकता अथवा उन-उन भावोंमें जिनकी कल्पना मविष्कमें की जा सकती है—कौनसी बात है ? जिसे इन सब बातोंका पूर्ण ज्ञान हो, वही पूर्णाधिपत्यका अधिकारी होने योग्य है और जब वह किसी मनुष्यका चित्रण करेगा, उस समय उसका हस्त मनुष्यके भावोंको इस कुशलतासे चित्रित करेगा कि उसे देखकर लोग आश्चर्यके पारावारमें डूब जायँगे।'

फिलास्ट्रेटसकी इन बातोंसे प्रकृतिकी महत्ता साफ़ साफ़ झलक रही है। जो कवि या चित्रकार प्रकृतिका सच्चा अध्येता होगा, उसकी कृतिमें प्रकृतिकी सौन्दर्यरश्मियाँ ऐसी झलकेंगी कि उसके ऊपर शतावरण डालनेपर भी वह अनिर्वचनीय आभा कदापि लुप्त न हो सकेगी।

विद्वान् एवं कुशल चित्रकारको पूर्ण प्रकृतिका काल्पनिक चित्र अपने मस्तिष्कमें खींच लेना चाहिए। इसी काल्पनिक चित्रके सहारे धीरे-धीरे वह चित्रणकर सकता है। यदि नियम कविके लिए भी ऐसाही है। यदि किसी प्रेमासक्त, प्रसन्न अथवा क्रुद्ध मनुष्यका चित्रण करना हो, तो कवि और चित्रकार दोनोंके सामने समान कठिनाई उपस्थित होती है। वह कठिनाई मानव-प्रकृति-विश्लेषणकी है। जो जितनी मात्रामें इस कठिनाईको हलकर लेता है, वह उतनी ही मात्रामें बड़ा एवं छोटा कवि अथवा चित्रकार कहलाता है। कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर, गेटे आदिको क्यों महाकवि कहा गया है? इसका मुख्य कारण उनमें वह विशिष्ट प्रतिभा है, जिसके द्वारा वे मानव-प्रकृति विश्लेषणमें सिद्धहस्त थे। मानव प्रकृतिके अतिरिक्त वे बाह्य प्रकृतिके चित्रणमें भी वैसेही कुशल थे। इसके उदाहरण सभी सत्काव्योंमें वर्तमान हैं।

वस्तुतः प्रकृतिमें कोई वस्तु पूर्ण नहीं है। यह कलाविद्का कार्य है कि वह अपनी कल्पना द्वारा प्राकृतिक वस्तुओंकी न्यूनताओंको पूर्णकरके आदर्श चित्रण करे। इसीलिए पहले बतलाया गया है कि प्रकृतिमें जो वस्तु जैसी है, उसे स्थूल बुद्धिकी सहायता लेकर वैसाही चित्रण करना कलाका परिचायक नहीं है। उसे पदार्थोंका चित्रण ऐसा करना चाहिए, जैसा कि उन्हें होना चाहिए (As they ought to be)। प्रकृति किसी वस्तुमें पूर्णता नहीं ला सकती। कोई-न-कोई भाग अपूर्ण अवश्य रह जायगा। इसीलिए मैक्सिमस टीरियस (Maximus Tyrius

कहा है कि जिस चित्र अथवा प्रतिमाकी रचना, चित्रकार अथवा शिल्पकार कितने ही सुन्दर शरीरोंके सुन्दरतम भागोंको मिलाकर करता है, उसमें अपूर्व सौन्दर्य होता है। किसी व्यक्ति-विशेषके शरीरमें इस सौन्दर्यका पाना असंभव है। इसी स्थलपर प्रकृति (Nature) की अपेक्षा कला (Art) की अधिक महत्ता हो जाती है। अतः जिन चित्रकारोंने व्यक्ति-विशेषके चित्रणमें उपर्युक्त नियमोंका पालन न कर केवल सादृश्य चित्रणके लिए प्रयास किया है, उन्हें प्रायः उक्त नियमोंके अभावके कारण धिक्कारा गया है। प्रसिद्ध अँगरेजी लेखक ड्राइडनने कहा है कि 'एंजेलो द कारवेगियो' (Angelo da Caravaggio) मनुष्यका ठीक वैसाही चित्रण करता था, जैसे वे वास्तवमें होते थे। इस बातमें डच-चित्रकार (Dutch painters) बहुत ही आगे बढ़े हुए थे। ऐसे ही कल्पनाहीन चित्रकारोंको लिसिप्पस घृणाकी दृष्टिसे देखता था। ऐसेही यदि कोई कवि कलाहीन होकर करीलके समान वर्णन कर दे, तो वह यशका भागी नहीं बन सकता। बिना मौलिकताके प्रकृत-वस्तु-चित्रणमें आनन्द ही नहीं आ सकता। अभिज्ञान शाकुंतलके चतुर्थ अंकमें कण्वके आश्रमसे शकुंतलाके बिदा होनेका उपाख्यान है; वहाँ जड़ प्रकृतिका चित्रण करते हुए उसेभी कवि कालिदासने मनुष्योंके समान ज्ञान-तंतु, हृदय तथा भावादिसे अलंकृत कर दिया है। सीधी सी बात तो यह है कि शकुंतला बिदा हो रही थी। वन-वृक्षोंकी पीली पत्तियाँ जराजर्जरित होकर पृथिवीपर गिर रही थीं; किन्तु कवि अलंकारका

आश्रय लेकर उसका कलात्मक वर्णन करता है—'मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः'—मानों लताएँ अश्रुके रूपमें पीली पत्तियोंको गिरा रही थीं। यहाँपर कविने मानव एवं जड़-प्रकृतिका सुंदर समन्वय दिखलाया है। अस्तु चाहे कवि हो अथवा चित्रकार, दोनोंही को प्रकृतिका आश्रय अवश्य लेना पड़ता है, किन्तु उनका वास्तविक कौशल उसे मौलिक कल्पनाका आवरण पहनानेमें है।

कवि और चित्रकार दोनोंके ही जीवनमें पाँचवीं विनोदपूर्ण बात इनका मतवैभिन्न्य है। स्पष्ट शब्दोंमें वे भिन्न-भिन्न स्कूलके अनुयायी होते हैं। अँगरेजी-काव्यमें कवियोंका दृष्टिकोण कविताके संबंधमें कभी एक नहीं रहा है। चासर और स्पेंसरके समयमें काव्यका आदर्श प्रायः वर्णनात्मक था। Romance के पुटके साथ मनोहर वर्णनही उनके काव्यका लक्ष्य था। इसके परिचायक दोनों कवियोंके 'प्रोलाग' तथा फेयरी क्विने' (Prologue and Fairie Queene) नामके काव्य हैं। पोपके समयमें कवितामें बनावट और ऊपरी तड़क-भड़क (Polish) अधिक रहने लगी। आगे चलकर वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्सके युगमें भावमय चित्रण पराकाष्ठा पर पहुँचा और ये कवि रोमांटिक स्कूल (Romantic School) के माने जाने लगे। हिंदी-काव्यमें भी यही बात रही है। चंदवरदाईसे अद्यपर्यन्त जितने भी प्रतिनिधि कवि हुए हैं, उनके काव्यमें एक दूसरेकी अपेक्षा कुछ-न कुछ विचित्रता अवश्य रही है। चंदवरदाईके काव्यादर्श और भाषाको छोड़िए। उस समय हिंदीके काव्य गगनमें अरुण प्रभातकी अस्पष्ट

लालिमा छारही थी। हिंदीके मध्यकालीन कवि सूर और तुलसीके काव्यसे यीच कोन नहीं कह सकता कि दोनोंमें भिन्न भिन्न धाराएँ प्रवाहित होरही हैं ? यदि एकमें मधुमय मादक धारा है, तो दूसरेमें स्फटिकके समान अनिर्वचनीय शुभ्र कांतियुक्त उज्ज्वल तरंगोंका आभास। यद्यपि ये दोनों कवि अपने समयके परम भक्त थे, तथापि इनके काव्यका आदर्श भिन्न था। मध्यकालसे लेकर आधुनिक कालके पूर्वभाग तक नखशिख वर्णनका साम्राज्य था। 'भारतेन्दु' ने नवीन सरणीका दिग्दर्शन कराया। उत्तरोत्तर इस मार्गमें मौलिक प्रतिभाका समावेश होने लगा। परिणामतः ब्रजभाषा और खड़ीबोली—भाषा-संबंधी मत-वैभिन्य तो था ही, अब खड़ीबोलीमें भी 'छायावाद' का उदय हो गया है। इस नवीन 'स्कूल' में कहीं कहीं पाश्चात्य और पौर्वात्य, दोनों भावोंका सुंदर सम्मिश्रण देखनेमें आता है। रहस्यवाद (Mysticism) हिंदी काव्यमें कोई नवीन वस्तु नहीं, फिरभी वह नवीन आवरणके साथ अवतरित हुआ है। अस्तु, अँगरेजी और हिंदी-काव्य-प्रगतिकी संक्षिप्त ऐतिहासिक आलोचनाका एकमात्र तात्पर्य कवियोंके विभिन्न आदर्शोंकी ओर निर्देश करना था।

काव्य और कलाके आदर्शके संबंधमें कभी मतैक्य नहीं रहा है। कलापर यदि टालस्टाय (Tolstoy) की कुछ सम्मति है, तो रस्किन (Ruskin) कुछ और ही कहता है। काव्यका आदर्श कलाकी अपेक्षा अधिक विवाद-ग्रस्त है। अँगरेजीमें प्रायः सभी बड़े-बड़े कवि तथा समलोचकोंने अपने हृदयके अनुसार

परिभाषाकी है। मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, जान्सन, कालरिज आदि सभी अँगरेज विद्वानोंने निराले ढंगसे काव्यादर्शका विवेचन किया है। और यह बात है भी ठीक। कवि अन्य कलाविद्की अपेक्षा अधिक निरंकुश और उच्छृङ्खल होते हैं। वे किसी नियम-विशेषसे आबद्ध नहीं रहना चाहते। उनकी प्रतिभा परंपराबद्ध नियमोंके विरुद्ध क्रांति करना और नवीन मार्गोका अवलंबन करना चाहती है।

चित्र-कलामें भी काव्यकी भाँति अन्यान्य स्कूल हैं। इस बात-का उदाहरण, ऊपर उद्धृत किए हुए बहुतसे चित्रकारोंके विचारोंमें मिल जायगा। यूनान, इटली, हालैंड, और फ्रांस आदि देशोंके चित्रकारोंमें भी विचार-विभिन्नता रही है। आजकल इङ्गलैंडमें भी नवीन चित्रणकलाका आविष्करण हुआ है। भारतमें ही Fresco paintings से लेकर आजतक चित्रणकलाके न-जाने कितने 'स्कूल्स' का उदय हुआ। बौद्धकालीन चित्रण-कला तो बहुत दूरकी बात है। मध्यकालीन भारतीय चित्र-संसारमें बहुत से स्कूल, जो 'क़लम' के नामसे प्रसिद्ध हैं, देखनेमें आये। उदाह-रणार्थ—देहली क़लम, लखनऊ-क़लम, जयपुर क़लम इत्यादि।

तारानाथ (१७वीं शताब्दी) नामक एक विभवदेशीय विद्वान्ने बौद्धकालीन कलाका वृत्तात लिखते हुए उसे तीन भागोंमें विभक्त किया है।

(१) देव-पद्धति (Style)—इस पद्धतिका अनुसरण मगध-देशमें ईसासे पूर्व छठीसे तीसरी शताब्दी तक किया जाता था।

(२) यक्ष-पद्धति—इसका अनुसरण ईसासे पूर्व तीसरी शताब्दी एवं उसके पश्चात् तक किया जाता था।

(३) नाग-पद्धति—यह पद्धति प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं लेखक नागार्जनके समयमें प्रचलित थी। अब भी इस पद्धतिका संस्मरण मात्र कृष्णा-नदीके तट पर अवस्थित अमरावतीके स्तूप पर प्रतिभाषित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें भी चित्रणकलामें कई स्कूल अथवा पद्धतियाँ प्रचलित थीं। मध्यकालमें भी मुगल और राजपूतस्कूलके अनुयायी चित्रकारोंने अपूर्व कौशल-का परिचय दिया था। सच बात तो यह है कि उस समय भारतके अंतर्गत जो कुछ भी चित्रकारी होती थी; वह इन दोनों स्कूलोंसे अलग नहीं थी।

आजकल भी वंगीय चित्रकारोंने एक नवीन भावमय चित्र-रंगमंचका उद्घाटन किया है। इस नवीन स्कूलका नाम-संस्कार टैगोरके पीछे किया गया है। कारण, इस स्कूलके संस्थापक श्रीयुत अवनींद्रनाथ ठाकुर हैं। इधर कुछ ही दिनोंसे बंबईमें भी कुछ चित्रकारोंके प्रयाससे एक नवीन 'स्कूल' का श्रीगणेश हुआ है। जापानमें भी चित्रणकलाके क्षेत्रमें पहलेकी अपेक्षा आजकल एक कायापलट ही उपस्थित हो गया है। पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों ही देशोंके लोग जापानी चित्रकारोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा कर रहे हैं। अतः काव्य और चित्रणकला दोनोंमें ही मतवैभिन्न्यके कारण विभिन्न स्कूल उपलब्ध होते हैं।

छठी बात काव्य और चित्रके संबन्धमें है उसका ध्येय-साम्य। संसारमें जितनी कलाएँ हैं, उन सबका ध्येय मनुष्य को सुख पहुँचाना है। यदि कलाका विशुद्ध प्रयोग किया जाता है, तो वह मानव-हृदयके उत्कृष्टतम अभिलाषाओंकी पूर्ति करता है, अन्यथा वह लज्जास्पद बनकर कुरुचिपूर्ण भावनाओंकी अभिवृद्धिमें सहायता देता है। अतः सत्काव्य और सचरित्र, मनुष्यकी सुसंस्कृत रुचि (Refined taste) को संतुष्ट करते हैं। किन्तु इन सब व्यक्त फलोंके होते हुए भी ये दोनों मनुष्य को शिक्षा देते हैं। देशभक्ति, धर्मभक्ति, दाम्पत्य प्रेम तथा शिष्टाचारके जो नियम सैकड़ों व्याख्यानोंकी सहायतासे लोग नहीं समझ सकते, उन्हें वे एक मार्मिक कविताके द्वारा हृदयंगम कर लेते हैं। वेद, इतिहास पुराणादि, सभी धार्मिक ग्रंथ काव्यमें ही वर्तमान हैं। इनके अध्ययनसे सुख तो मिलता ही है, सदाचार-निर्माणकी शिक्षा भी कम नहीं मिलती। इसे कोई नहीं अस्वीकार कर सकता कि पर्याप्त संख्यामें हिंदुओंके जीवन निर्माणका श्रेय महाकवि पूज्य श्रीतुलसीदासजीकी अमरकृति 'रामायण' को है। इसीके सहारे साधारण से साधारण ग्रामीणभी उन गम्भीर तत्त्वोंको कह जाता है, जिन्हें वार्क्स, कांट और मिल्सके बृहत्काय ग्रन्थोंमें भी प्राप्त करना कठिन है।

काव्य और चित्र दोनोंही किसी देशकी सभ्यताके परिचायक हैं। इनमें कला निरूपणका जो स्वरूप होगा, उसीके अनुकूल लोग सभ्यताका 'स्टैंडर्ड' समझ सकते हैं। यूनान क्यों योरपीय देशोंका गुरु माना जाता है ? इसका कारण उसकी प्राचीन उन्नति

साहित्य और कलाके क्षेत्रमें यूनानने दो हजारवर्ष पूर्व जो नियम बनाया था, वह आजभी योरपीय देशोंके लिए पथ-प्रदर्शक नक्षत्र (Guiding Star) का कार्यकर रहा है। अभी ४० वर्ष पहले भारतके संबंधमें पाश्चात्य लोगोंका मत था कि भारतमें चित्रणकला थी ही नहीं, किन्तु जब धीरे धीरे अज्ञानका पर्दा हट गया और सामने प्राचीन भारतीय कला-भानु अपनी प्रखर किरणों से चकाचौंध करने लगा, तो लोग अवाक् रह गये, और कहने लगे कि भारत ललितकलामें भी अति प्राचीनकालसे अग्रगण्य रहा है। आजभी परतंत्रताकी बेड़ीमें पड़े हुए बूढ़े भारतके लिए यदि कोई गर्वकी वस्तु है तो वह है उसका काव्य और दर्शन। इन्हीके कारण भारतका अंतरराष्ट्रीय सम्मान (International Prestige) अबभी है। अतः काव्य और चित्र दोनोंही का ध्येय समान है। दोनोंही अपने देशकी समुन्नतिके साधक हैं।

उपर्युक्त छः मुख्य बातोंके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं, जो काव्य और चित्रणकलामें समानरूपसे मिलती हैं, किन्तु यदि गंभीर विचारसे देखा जाय, तो उन सबका अंतर्भाव इन्हीं छः में हो जाता है। भारतीय दृष्टिकोणसे तो काव्य और चित्रणकलाके साम्यके संबधमें एकही पदका कहना पर्याप्त है और वह पूर्णतः चरितार्थ होता है अर्थात्—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'।

—:०:—

भारतीय नाट्यकला

इतिहास और विस्तार—स्वायम्भुव मन्वन्तरके त्रेताके आरम्भमें प्रजा ग्राम्य-धर्ममें प्रवृत्त हो चुकी थी—अर्थात् सर्वसाधारणकी रुचिके बिगड़ जानेसे अश्लील, असभ्य और अरोचक भाव बढ़ रहे थे। सर्वत्र काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ आदि दुर्गुणोंसे कोई दुःखी था और कोई सुखी, जिससे प्रजामें एक भयानक विषमता उत्पन्न हो गयी थी। उस समय देव, दानव, गंधर्व, रक्ष, यक्ष और नागजातियाँ संपूर्ण जम्बूद्वीपमें व्याप्त हो चुकी थीं। सम्भवतः इन्हीं देवजातियोंने मानव-जातिका पूर्वोक्त अधःपतन देखकर इन्द्रके द्वारा ब्रह्मासे कहलाया कि हम ऐसा खेल खेलना चाहते हैं, जो दृश्य और श्रव्यभी हो तथा वैदिक संस्कृतिके विरुद्ध न हो और उसमें शूद्र-जातियाँ भी भाग ले सकें, अतः ऐसा सार्ववर्णिक 'पञ्चम-वेद' तैयार कीजिए। ब्रह्माने इस प्रार्थनाको स्वीकार करके 'नाट्यवेद' की रचना की। इसमें ऋग्वेदसे (या उसके सिद्धान्तोंकी शैलीपर) गद्य, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय एवं अथर्ववेदसे 'रस' का संग्रह किया गया। इस आदिम नाट्यग्रन्थकी रचना शिव-नारद-के संवाद रूपमें की गयी थी। शास्त्र या नाटक तैयार हो जानेपर शीघ्रही एक ऐसा अवसरभी आगया कि रङ्गभूमिपर उसका अभिनय करके दिखाया जासके। महेन्द्रके ध्वजा उड़ाने या नीराजनका

उत्सव-काल उपस्थित था और उसीमें ब्रह्माजीकी इच्छासे यह शिव-नारद-संवाद-रूप चतुष्पाद नाट्य, जो संसारके इतिहासमें सबसे पहला नाटक ग्रथके रूपमें था, रङ्ग-मञ्चपर खेला जाना निश्चित किया गया। जैसा कि इस उत्सवके नामसे अनुमान किया जासकता है, यह तीन सौ वर्षके देवासुर-संग्राममें देवोंकी विजयके उपलक्ष्यमें मनाया जाता था, और इसीलिए इसे महेन्द्र-विजयोत्सवभी कहते थे। इस अभिनयके अन्तिम दृश्यमें दिखाया गया था कि दैत्योंको देवोंने किस प्रकार परास्त करके युद्ध-भूमिसे भगा दिया था और मार-पीटसे उन लोगोंमें कितनी भगदड़ पड़ी थी।

यह सर्वप्रथम नाटक सफलतापूर्वक खेला गया, एवं सभीने इसे पसन्दकर इस संस्थाको स्थायी बनानेके लिए पारितोषिक आदि देकर सहायता दी।

इस कालके इतिहाससे ज्ञात होता है कि इन्द्रने उक्त उत्सवके प्रसङ्गमें उपयुक्तकी हुई उत्तम ध्वजा (झण्डा), ब्रह्माने कुटारा (कुटिलक ?), वरुणने भृङ्गार (झारी), सूर्यने छत्र, शिवने सिद्धि, वायुने व्यजन (पङ्खा), विष्णुने सिंहासन, कुबेरने मुकुट दिए; इसी प्रकार सभी देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नागोंने भी सहायता दी। किन्तु दानवोंने, और उनके साथही दैत्योंने भी, देवोंके इस कार्यसे सन्तोष नहीं प्रकट किया, प्रत्युत अपने सर्वनाशके इतिहासको इस प्रकार तमाशेके रूपमें देखने-दिखानेसे उनके स्वात्माभिमानकी वृत्ति भड़क उठी, और उन्होंने विरूपाक्षकी अध्यक्षतामें देवोंको स्पष्ट सूचना दे दी कि हम इस प्रकारका नाट्य

नहीं चाहते। देवोंने उनके अहिंसात्मक निष्क्रिय विरोधकी कुछ पर्वा न की। फलतः दैत्य और दानवोंने विरूपाक्ष, माया और विघ्नों (दानवोंके सैनिकगण) की सहायतासे उनके खेलको बलात् (उपद्रव करके) रोक दिया। इन्द्रने इसपर और भी अधिक क्रोध प्रकट किया एवं रंगभूमिमें जो विघ्न और असुर घुस आये थे, उन्हें वहीं डंडेसे मार-मारकर उनकी हड्डी-पसली तोड़ दी। फलतः दानवोंको विफल होकर बैठना पड़ा।

किंतु देवोंने इससे दो नयी बातें सीखीं—

(१) उन्होंने उस डंडेका नाम 'जर्जर' रक्खा जिसने दानवों के सैनिकोंको जर्जरी करके भगा दिया था, एवं इन्द्रने वह डंडाभी नाट्य संस्थाको भेंटकर दिया।

(२) अब तक उनके 'नाट्य' खुली जगहमें दिखाये जाते थे, किन्तु आगेसे उन्होंने नाट्यगृह बनानेकी व्यवस्था की एवं यह कार्य अपने वेश्म-कलावित् विश्वकर्माको सौंपा। साथही उस नाट्यशालाकी विशेष सजावट और रक्षाका भी सबने मिलकर प्रबंध किया। चन्द्रमाने मण्डपकी रक्षाका भार लिया, लोकपालोंने आठों दिशाओंका, अदितिकी सन्तान मरुतोंने विदिशाओंका, मित्रने नेपथ्यभूमिका, अग्निने वेदिका और भांड (नाट्यशाला-संबंधी वस्त्राभूषण) का रक्षाभार लिया। नाट्यगृहके स्तम्भोंपर चारों वर्णोंके सैनिक नियत किये गए, एवं स्तम्भोंके बीचके भागोंकी रक्षाका कार्य आदित्य और रुद्रके गणों (सैनिकों) को दिया गया। इसी प्रकार आसनोंकी रक्षा भूत (भूतानदेशी सैनिक),

शालाकी रक्षा अप्सरा (देववर्गकी स्त्रियाँ), बाहरके घरोंकी रक्षा यक्षिणी, भूतलकी रक्षा महोदधि (एक विशेष नाग सरदार), द्वारोंके आगे पीछेकी रक्षा कृतांत और काल नामक नागोंको दी गयी और देहलीपर स्वयं महेन्द्र (शिव) शूल हाथमें लेकर बैठे। रङ्गपीठके पार्श्वमें इन्द्रने अपना स्थान नियत किया। भूत (भूत-स्थानी भूटानी), पिशाच (परतो बोलनेवाली पठान जाति), यक्ष (खस) और गुह्यक (पहाड़ोंकी गुफामें निवास करनेवाली) जातियोंके योद्धा रङ्ग-भूमिके भिन्न-भिन्न स्तम्भोंकी रक्षाके लिए नियत किए गए। जर्जर-नामक पूर्वोक्त ध्वजामें इन्द्रके प्रसिद्ध वज्र-को निहित किया गया, और स्वयं जर्जरकी रक्षाका भार ब्रह्मा, भूतनाथ (शंकर), विष्णु, स्कन्द (देव-सेनाके प्रधान सेनापति) तथा सुप्रसिद्ध नागजातिके तीन प्रधान नेताओं—शेष, वासुकि और तक्षक—ने सम्मिलित रूपसे लिया। इतना ही नहीं, अपितु इस क्रीड़ास्थलको नितांत सैनिक-स्थलका रूप देकर विभीषिका उत्पन्न करनेके लिए स्थान-स्थानपर और भी बहुतसे निम्न देशोंमें बसनेवाले यक्ष, गुह्यक और नागजातिके योद्धा नियत किये गये।

पात्रोंकी रक्षा—इस नाट्य कलाके विकासकी आदिम अवस्थामें (१) नायक, (२) नायिका और (३) विदूषकही मुख्य नाट्यपात्र होते थे; किन्तु इनके साथ और भी कुछ आवश्यक कार्य-कर्ता रक्खे जाते थे जो 'प्रकृति' कहे जाते हैं। इनकी भी विशेष रक्षाका प्रयत्न किया गया है; क्योंकि इस संबंधमें केवल शारीरिक रक्षाका ही

प्रश्न नहीं था, प्रत्युत उनके मस्तिष्क—उनकी वृत्तियोंको भी विषम और विकृत न होने देनेकी समस्या सम्मुख थी, अतः नायकको इन्द्रने नायिकाको सरस्वतीने और विदूषकको ओंकारने तथा शेष 'प्रकृति' को हर या शंकरने अपनी-अपनी रक्षामें विशेष रूपसे लिया।

नाट्यकलाका मनोविज्ञान—सम्भव है, देवोंने रक्षाका ऐसा प्रबल प्रयत्न करके सैनिक बलके प्रदर्शनसे दैत्यों और असुरोंके हृदयमें विभीषिका उत्पन्न कर दी हो, किन्तु केवल पशुबलसे ही नाट्य-जैसी ललित-कलाका अभ्यास और प्रदर्शन नहीं किया जा सकता था। अतः उनके मस्तिष्क और हृदयपर भी अधिकार करके उनका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझा गया एवं उनके नेताओंको बुलाकर इस विषय पर एक बार फिर बातचीत आरम्भ कीगयी। दैत्योंकी खास शिकायत यही थी कि ब्रह्माने देवोंका पक्ष लेकर ही उक्त नाट्यवेद-की रचना क्यों की ? ब्रह्माने तो पहले दानवों और देवोंको समान कहा था, फिर दैत्योंके अपमानजनक वेदकी रचना देवोंके लिए स्वयं उन्होंने क्यों की ?

ब्रह्माने उनका समाधान नाट्यकलाका मनोविज्ञान समझाकर इस प्रकार किया—

"दैत्यों, आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। विषादको छोड़िए। मैंने जिस नाट्यवेदकी रचना की थी, उसमें आप और देवोंके शुभाशुभ कर्म और भावोंकी कल्पनाका प्रदर्शन मात्र था। उसका

अर्थ यह कदापि नहीं है कि इसमें केवल आप लोगों या देवोंके ही भावोंका शुभ अथवा अशुभ विचारा गया हो या इसपर किसी एक पक्षका ही एकान्त अधिकार हो, प्रत्युत इसमें देव, दानव, मानव इन तीनों जातियों—लोकोंके भावोंका (मानसिक, शाब्दिक और कार्मण) प्रदर्शन तथा श्रवण रक्खा गया है। कहीं इसमें द्वन्द्व दिखाया जाता है, कहीं खेल, कहीं अर्थ, कहीं समभाव, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध। नाट्यमें उन कामी और अर्थलोलुप जनोंका निग्रह और दमन दिखाया जाता है, जो काम आदिके वशीभूत धर्माधर्ममें प्रवृत्त होते, दुर्विनीत बनते तथा मत्त हो जाते हैं। इसके द्वारा नपुंसकोंको युद्धका उत्साह प्राप्त होता है (या ज्वारी, नपुंसक और अपनेको उत्साही माननेवाले मूर्खोंको इससे ज्ञान प्राप्त होता है) और ज्ञानियोंको चातुर्य आता है। इस नाट्यमें सम्पन्न लोगोंकी विलासिता, दुःखित जनोंका धैर्य, सामान्य जीवन वितानेवालोंका अर्थलाभ तथा उद्विग्न रहनेवालोंकी स्थिर-चित्तताका प्रदर्शन होता है और, सन्तेपमें, नाना प्रकारके मानसिक भाव, वृत्तियाँ, अनेक प्रकारकी संपन्न-विपन्न, सुखी-दुःखी, सन्तुष्ट-असंतुष्ट आदि दशाएँ एवं सब प्रकारके लोकवृत्तका अनुकरण दिखाया जाता है। उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मानव-चरित्रोंका प्रदर्शन यहाँ होता है, जिससे प्रजा केवल उपदेशसे ही लाभान्वित नहीं होती, प्रत्युत धैर्य, क्रीड़ा तथा सुखभी प्राप्त करती है। यह दुःखी, सुखी, शोकार्त, त्यागी आदि सब प्रकारके प्राणियोंको सुख और आनन्द देनेवाली कला है। इससे दुःखी,

सन्तप्त और शोकाकुल तथा तपस्वी भी विश्रान्ति पा सकते हैं। इससे धर्म और यशकी वृद्धि होगी, लोग दीर्घजीवी होंगे, प्रजाका कल्याण होगा, बुद्धिका विकास होगा एवं संसारको उपदेश मिलेगा। न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प, न कला, न विद्या, न कौशल और न कर्मही—जिसका प्रदर्शन इस नाट्यमें न किया जाता हो, इसलिए आप लोगोंको नाराज नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह और किसी विचारसे नहीं रचा गया है। यह तो देव, असुर, राजा, ऋषि, महर्षि आदि सभीके यथावत् वृत्तान्तोंका प्रदर्शन-मात्र करनेवाला है। वास्तवमें 'नाट्य' शब्दका तो अर्थ ही यह है कि सुखी और दुःखी सब प्रकारकी प्रजाके स्वभाव और उनकी शारीरिक क्रियाओंको ज्यों-का-त्यों करके दिखाया जाय। इसका उद्देश्य केवल वेद, विज्ञान, इतिहास और अनेक अभीष्ट अर्थोंकी रचनाको यथावत् रखना तथा प्रजाका मनोरञ्जनमात्र है।"

दूसरा नाट्य—जान पड़ता है, ब्रह्माके इस उपदेशका दैत्योंपर यथेष्ट प्रभाव पड़ा एवं उन्होंने विरोधका परित्याग कर दिया। शीघ्रही नये निर्माण किये गये। नाट्य वेदमें बड़ी धूम-धामके साथ दूसरे नाट्यके प्रदर्शनकी योजना की गयी। इस बार दोनों पक्षोंको अच्छा लगनेवाला 'अमृत-मन्थन' खेला गया। इसकी रचना भी ब्रह्माने ही की थी।

तीसरा नाट्य—कुछ समय पश्चात् फिर ब्रह्माने एक नया नाट्य तैयार किया और वह त्रिनेत्र (शिव) को समर्पित

किया गया। इस नाटकका उन्हींके एक शौर्य कार्यसे सम्बन्ध था एवं उन्हींके घरपर, सर्वप्रथम खेला भी गया था। इसका नाम त्रिपुर-दाह-डिम था। इसमें भूतानियोंके उन वीर्यपूर्ण कार्योंका प्रदर्शन किया गया था, जो उन्होंने उक्त त्रिपुर-दाहके अवसरपर किए थे। अपने कर्म और भावोंका इस प्रकार कीर्तन और दर्शन सुन तथा देखकर भूतगण (भूतानी सिपाही) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नृत्यका समावेश—इसी प्रसङ्गपर, नाट्य-प्रदर्शन समाप्त होने के पश्चात्, शिवजीने इसमें अनेक प्रकारके करण और अंगहारवाले नृत्यको समाविष्ट करनेका प्रस्ताव किया। ब्रह्माने भी इसे पसन्द किया एवं महादेवके आदेशसे उनके गण तण्डुने अंगहार, करण तथा रेचकोंका व्याख्यान करके भरतको नृत्य-कलाका बोध कराया।

भरत मुनि—अब तक जो नाटक लिखे गये थे, वे सब ब्रह्माने लिखे थे, किन्तु उन्हें खेला था भरतने ही। अर्थात् भरत संसार के सर्वप्रथम नाटक खेलनेवाले थे। जब नाट्यकलामें 'नृत्य' का समावेश किया गया तो सबसे पहले उन्होंने इस कलाको तण्डुसे सीखा भी। धीरे-धीरे कलाके विकासक्रमके साथ-साथ नाटकमें पात्रोंकी संख्याभी बढ़ती गयी एवं नाचने तथा स्त्रियोंका कार्य-भाग दिखानेके लिए स्त्री-पात्रोंकी आवश्यकताका अनुभव होने लगा। और, आगे चलकर पुरुषोंको स्त्रीवेशमें रखकर उनसे स्त्रीभावोंका प्रदर्शन कराना एक दोष भी माना गया। भरतने

जिनको अपना शिष्य बनाकर नाट्य-कला सिखायी, वे भरतपुत्र कहलाये और स्त्री-पात्र अप्सरा कहलायीं। नाट्य-कलाके विकास-में वृद्धि हो जानेके कारण, जान पड़ता है, धीरे-धीरे यह प्रदर्शन-कार्य स्वयं एक स्वतंत्र व्यवसायका रूप धारण करने लगा था, एवं केवल मनोरञ्जन और समाज-शिक्षण आदि ही इसके उद्देश्य नहीं रह गये थे, प्रत्युत काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा आदि तामसी वृत्तियोंकी पूर्तिभी इसके द्वाराकी जाने लगी थी। वास्तवमें ऐसा होना इस दिव्य कलाका घोर अपमान था, अतः विद्वत्समाज ने इस भावसे खेले जानेवाले नाटकोंको उद्देश्य भ्रष्ट एवं ऐसे खेल-नेवालोंको पतित कहकर शूद्राचारी संज्ञा दी। कलाके लिए कलाका उपयोग करनाही कलाका आदर करना एवं उसका महत्त्व स्थिर रखना है, इसके विरुद्ध करना इसे नीचे गिराना है। इस समय तक नाट्यकलाके कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न वर्गोंमें विभाजित हो चुके थे, और वे सब मिलकर भरतपुत्र कहे जाते हैं। वर्ग ये हैं—

(१) भरत—यह नाट्य-संस्थाका आधारभूत संचालक होता था। सम्पूर्ण नाट्य-संबन्धी उपकरण आदि इसे जुटाने पड़ते थे। इसके ऊपर अनेक कार्योंका उत्तरदायित्व रहता था। इसे नाट्य-यज्ञका ब्रह्मा कहना उचित होगा।

(२) विदूषक—लोगोंको अच्छी लगने वाली, सामान्यमें लोक-व्यवहारमें आयी हुई अनेक प्रकारकी लीला करके हँसानेवाले, हाजिर जवाब (प्रत्युत्पन्न मति) हँसी मजाक करनेवाले तथा कटे-फटे आदि चेहरेवाले पात्रको विदूषक कहते थे। ये लोग

मुँहफट तो होते थे, किन्तु कोई भी अनार्य बात नहीं कहते थे।

(३) तौर्यिक—इसे आजकलका बैण्ड मास्टर कहा जा सकता है। सब प्रकारके बाजोंके बजाने और सिखानेमें यह व्यक्ति चतुर होता था। इसके अधीन शेष बाजेवाले कार्य करते थे।

(४) नट—सांसारिक पात्रोंको जानकर उनके अभिनयके लिए रस, भाव और सत्त्वोंको प्रकट करनेकी शिक्षा देना इसका कार्य होता था।

(५) नांदी—मधुर वाणीसे मङ्गलाचरण करके दर्शकोंका स्वागत करना, उन्हें नाट्यसंस्थासे परिचित करना और दर्शकोंका ध्यान नाट्य-वस्तुकी ओर आकर्षित करना इसका काम होता था। यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ प्रयुक्त करता था।

(६) सूत्रधार—नाट्य-वस्तुके गायन, तत्सम्बन्धी वाद्ययंत्र और पाठ्य-वस्तुओंकी ओर पात्रोंका ध्यान आकर्षित करनेके लिए सङ्केत देना सूत्रधारका मुख्य कार्य होता था। नाट्यशालाके परदेके सूत्रको खींचकर पर्दा डालना भी इसीका कार्य होता था।

वास्तवमें सूत्रधार एक विचित्र व्यापक शब्द है। स्थापत्यमें बढ़ई भी सूत डालकर लकड़ी चीरते हैं और सूत्रधार कहे जाते हैं। राजभी अपना काम सूत लगाकर ही करते हैं एवं इमारतके सीधेपन और टेढ़ेपनको देखते हैं, ये भी सूत्रधार कहे जाते हैं। जिनके हाथमें किसी महत्त्वपूर्ण कार्यकी डोरी या बागडोर होती है, उसे भी सूत्रधार कहते हैं। अतः सूत्रधारको स्टेज-मैनेजर कहना उपयुक्त होगा।

(७) नाट्यकार—प्रत्येक संस्थामें नाटक लिखनेके लिए रस, भाव, सत्व आदिके अनुभवी विद्वान् रहते थे। वही नाट्यकार कहे जाते थे। घटनाओं को जानकर ये इन्हें नाटकका रूप देते थे।

(८) नायक—यद्यपि यह नाट्यका एक पात्र होता था, तो भी चारों प्रकारके कार्यों—गाना, बजाना, नाचना और अभिनय (*पाठ्य तथा अंगहार करना*)—को स्वयं सबसे पहले स्टेजपर करता था। अतः इसेभी मुख्य रूपसे गिना गया है। निःसन्देह यह व्यक्ति नाट्यकलामें विशेषरूपसे निष्णात होता होगा।

(९) मुकुटकृत्—पात्रोंके कार्यानुरूप अनेक प्रकारके फैशन-वाले मुकुट, पगड़ी, टोपी, शिरस्त्राण आदिकी रचना करने वाला व्यक्ति।

(१०) आभरणकृत्—पात्रोंको उनके अनुरूप आभरण पह-नानेवाले, भिन्न भिन्न आभरणोंके सजानेके काम एवं उन आभरणों के भेदसे, अनेक व्यक्ति एकही संस्थामें रखने पड़ते थे। अनेक प्रकारके आभरणोंके ज्ञान, दैशिक वेशभूषा एवं जातिगत विशेष रूढ़ियोंके कारण जितनी विशेषताएँ वेशन्यासके इस अंगमें प्राप्त होती हैं, वे साधारण नहीं होतीं, और नाटकमें ये सब विशेषताएँ स्पष्ट होनी चाहिए। अतः इस व्यक्तिका कार्यभी कम मह-त्वपूर्ण नहीं होता था। अवश्यही इसे अपनी कलामें बहुविद् होना चाहिये।

(११) माल्यकृत्—पाँच प्रकारकी मालाएँ बनाने और पह-नानेवाला व्यक्ति।

(१२) वेपकर—कछावट करनेवाला कलाविद् ।

ये अन्तिम चार श्रेणियोंके कार्यकर्ता एक प्रकारसे वेपकारके भेद कहे जासकते हैं, किन्तु कार्याधिक्य होने और नाट्य-वस्तुके पात्रोंकी विभिन्नताके कारण इनका अलग-अलग होनाही कार्यको सुचारु रूपमें चलानेके लिए आवश्यक होता था।

(१३) चित्रज्ञ—नाट्यशालाके लिए परदे तैयार करने-वाला व्यक्ति ।

(१४) रजक—यह अवसरके अनुरूप वस्त्र रँगकर देता था। अनेक रंगोंके अलग-अलग वस्त्र रखनेकी अपेक्षा थोड़े-से वस्त्रोंको बार-बार रँगकर काममें लाना अवश्य सुविधाजनक एव अपव्ययसे बचानेवाला होता है।

इनके अतिरिक्त लाख, रत्न, पत्थर, लोहा और काठ आदिका काम जाननेवाले कारुक (कारीगर), अनेक प्रकारके बाजोंके बजाने और उनपर गानेवाले निपुण गवैये—जो कुशीलव कहे जाते थे—भी नाट्य संस्थाके कर्मचारीवर्गमें, प्राचीन समयमें गिने जाते थे।

ये सभी सामान्यरूपसे नट कहलाते थे।

नाट्य-वर्गका अधःपतन—जब इस प्रकार यह संस्था विकसित होकर स्वतन्त्र व्यवसायका रूप पकड़ रही थी, तो इसमें अवश्य उच्छृङ्खलता भी आने लगी थी। इस सबंधमें हम ऊपरभी संकेत कर आये हैं। संभव है, आचार-संबंधी गड़बड़ी भी कुछ उनमें उत्पन्न होने लगी हो। कुछभी-

हो, देवों और ऋषिमुनियों द्वारा लगायी यह नाट्य-संस्थाकी ललित लता पतनकी ओर चल पड़ी थी। ऋषियोंके मजाक इसमें उड़ाये जाते थे, राजाओं को बेवकूफ बनाया जाता एवं देवों को कुत्सित रूपमें जनताके सम्मुख लाया जाने लगा था। कालिदासके विदूषकोंने दुष्यन्त आदि की जो दुर्दशा की है, उससे इस कथनका कुछ अनुमान हो सकता है। कर्मचारीवर्गमें विलासिताके कारण कुछ लम्पटगामी उत्पन्न हो चली होगी, जिससे सर्वसाधारणके सदाचार बिगड़ने लगे होंगे। सबसे बढ़कर बात यह थी कि जो वस्तु आरम्भमें देवोंकी संपत्ति और राजा महाराजाओंके एकाधिकारकी भोग्य वस्तु थी, वह अब सर्व सामान्य होती जा रही थी। अतः शिष्ट-समाजने इस संस्थाके कार्यकर्ताओं को शूद्राचारी कहकर हीन दृष्टिसे देखना आरम्भ कर दिया।

एक बार जब यह संस्था शिष्ट-समाजकी दृष्टिमें गिर गयी, तो फिर इसका सम्हलना कठिन हो गया और इस कलाके आचार्योंने फिर यही ठीक समझा कि इसे अब और लोगोंको भी सौंप देना चाहिए। फलतः यह कला द्विजेतर जातियोंतथा अप्सराओंको सिखादी गयी। येही आज तक 'नट' और 'नटी' के नामसे प्रसिद्ध चले आते हैं।

मानव वंशमें नाट्य-कलाका आरम्भ—देव दानव-वंशसे मानव-वंशमें इस कलाके आनेका भी एक स्वतंत्र इतिहास है। यहाँ देव और दानव वंशोंका मानव-वंशसे भेद स्पष्ट करनेके लिए इतनाही कहना यथेष्ट होगा कि पहले दो वंश कश्यपसे

चले थे और वे 'काश्यप' कहे जा सकते हैं। इसका विस्तार आर्योंके मूलस्थानसे पश्चिम और पूर्वकी ओर फैला था। किन्तु तीसरा वंश ब्रह्माके पुत्र मनुसे चला था, और उसकी कई शाखाएँ भारतवर्ष तथा चीनमें फैली थीं। बहुत समय तक ये तीनों वंश परस्पर लड़ते रहे थे, किन्तु दानवों और देवोंकी अपेक्षा गहरा सौहार्द इनमें स्थापित हो चला था। अस्तु

एक बार मानव-वंशकी चन्द्रशाखाके चतुर्थ सम्राट् नहुषने इन्द्रराज्यपर अधिकार प्राप्तकर लिया एवं यह कामनाकी कि देव-गण और अप्सराओंसे भारतवर्ष (अर्थात् पौराणिक भाषाके मानव-लोक, मर्त्यलोक या नरलोक) में खेलें। देवोंने अपने गुरु बृहस्पति को आगे रखकर निवेदन किया कि स्वर्गकी अप्सराओंसे तो मानवों की संगति हो नहीं सकती, इसलिए आप स्वर्गाधिपति होनेकी हैसियतसे कृपा करके वही आज्ञा दीजिए जो उचित और हितकर हो। हाँ, यदि आप चाहें तो आचार्य भरत अपने भरत-पुत्रोंको ले जाकर मानव-लोकमें नाट्यप्रयोग दिखला सकते हैं। नहुषने इस प्रस्तावको पसन्द किया। इधर भरत मुनिने भी अपने पुत्रोंको समझाया कि कदाचित् इन्द्र (नहुष) की प्रसन्नतासे उनके शापका भी अन्त हो जायगा एवं मानव-वंशके ऋषि-मुनियोंको भी प्रसन्न किया जा सकेगा, अतः उन्हें ले नहुषके घर आकर नाटक दिखाये। इन स्वर्गीय भरत-पुत्रोंके संसर्गसे मानुषी स्त्रियोंने अनेक पुत्रोंको जन्म दिया, जिन्हें उनके पिताओंने नाट्यकला सिखायी। इस प्रकार काश्यपोंसे मानवोंमें यह कला आई।

नाट्य-विज्ञान विषयक प्राचीन साहित्य--ऊपर कहा गया है कि 'नाट्यवेद' पाँचवाँ वेद था, अतः उसके पश्चात् तत्स-बंधी साहित्य भी अन्य चार वेदोंके षडंगोंकी नाईं 'षडंगात्मक' रूपसे रचा गया। नाट्यवेदके षडंगोंके नाम सूत्र', 'भाष्य', संग्रह' 'कारिका', 'निघण्टु' और 'निरुक्त' हैं।

(१) 'सूत्र' शब्दका अभिप्राय यहाँ भावपूर्ण सूक्ष्म रचनासे नहीं है जैसे पाणिनिके सूत्र हैं, प्रत्युत आश्वलायन-कृत गृह्य-श्रौत सूत्र-ग्रंथोंकी नाईं ये ग्रंथभी विवरणात्मक गद्यमय रचे जाते थे। चरक और सुश्रुतके आरम्भिक भाग 'सूत्र स्थान' कहे जाते हैं, किन्तु उनकी रचना सूत्रमय न होकर गद्यपद्यमय विवरणात्मक पायी जाती है। स्थान स्थानपर प्राचीन श्लोक, आर्या और उक्तियाँ भी उद्धृतकी गयी हैं। इन ग्रथोंमें नाट्यके सभी आवश्यक विषय संक्षेपमें किन्तु क्रमबद्ध निबद्ध किये जाते थे।

पाणिनिने ऐसे दो सूत्र-ग्रन्थोंका उल्लेख अपने व्याकरणमें किया है, जिनके रचियता क्रमसे शिलाली और कृशाश्व थे; किन्तु भरतमुनि-प्रणीत नाट्य शास्त्रमें इन नामोंका उल्लेख नहीं पाया जाता, प्रत्युत भविष्य-कथनके रूपमें कोहल, वत्स, शाडिल्य और धूर्तिलके नामोंका उल्लेख यहाँ किया गया है। पाणिनिने इनका उल्लेख नहीं किया है। स्वयं भरत या ब्रह्मा रचित नाट्य-सूत्रका उल्लेख भी कहीं नहीं प्राप्त होता वस्तुतः ब्रह्मा-रचित ग्रंथ 'वेद' था, 'सूत्र-ग्रंथ' नहीं, एवं भरत कृत नाट्यशास्त्र एक भाष्यादि षडंगमय संग्रह ग्रंथ है। संभव है, कोहल आदिके रचे ग्रंथभी इसी प्रकारके

संग्रह ग्रंथ रहे हों, उसीलिये इनका उल्लेख पाणिनिके सूत्रोंमें नहीं किया गया; अथवा यह भी संभव है कि ये पाणिनिके पूर्वकालीन न होकर उत्तरकालीन रहे हों।

भरत मुनिने छठे अध्यायमें 'सूत्रग्रंथविकल्पनम्' के नामसे प्राचीन सूत्र-ग्रथोंसे यथेष्ट उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणोंमें सूत्र और उनके ऊपर भाष्यात्मक विवरण दिये गये हैं। यह रचना प्राचीन शैलीकी उसी प्रकारकी गद्य-पद्य मिश्रित है, जैसी चरक और सुश्रुतके सूत्र-स्थानमें प्राप्त होती है। कौटिल्यके भाष्योपेत सूत्रों की अपेक्षा यह सरल, सुबोध एवं प्रसादगुण युक्त है। अवश्यही जिन ग्रंथोंसे ये उद्धरण संग्रह किये गये हैं, वे भरत मुनि-कृत नाट्य शास्त्रकी रचनासे प्राचीन थे। किन्तु उनके रचयिताके नाम भूले जा चुके हैं।

क्या ये अंश ब्रह्मा-रचित नाट्य-वेदके हो सकते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। अवश्यही नाट्य-वेद सिद्धांतात्मक ग्रंथभी था और देवासुर-संग्राम नामक नाट्यवस्तु भी उसमें निहित थी। अतः विरुद्ध साक्षीके अभावमें इस आधारपर— कि भरत मुनिके नाट्य शास्त्रमें भूतकालके किसी अन्य आचार्य का उल्लेख नहीं पाया जाता—यह स्वीकार किया जा सकता है कि भरत मुनिने उक्त वेदसे ही ये उद्धरण ले लिए हों किन्तु इस युक्तियुक्त अनुमानके अतिरिक्त इसके पक्षमें और कोई प्रमाण नहीं है। अतः यह बात निर्विवाद भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

(२) 'भाष्य'-ग्रन्थ, सूत्र ग्रन्थोंके संक्षिप्त कथनको उदाहरण

और विवरण आदिसे बढ़ाकर स्पष्ट करते थे। सूत्रोंमें पाठकके लिए अनुमान लगानेको बहुत कुछ अवसर रहता था, किन्तु भाष्यकार इस कमीको पूरा करके पाठकका काम सरल कर देते थे।

(३) 'संग्रह', सूत्र और भाष्यके अभिप्रायको अति संक्षेपमें सूचित करनेवाले श्लोकोंको कहा गया है। इसमें रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रङ्गका संक्षिप्त विवरण पाया जाता है।

(४) जिस विषयको सूत्रमें—गद्यमय सूत्रमें संक्षेपसे कहा गया हो, उसे सूत्रके भावके अनुसार ही श्लोकमें प्रकट करनेवाली रचना 'कारिका' कही जाती है।

(५) नाट्यशास्त्र-सम्बंधी पारिभाषिक शब्दोंके ऐसे संग्रहको निघण्टु कहते हैं, जिसमें उनका संग्रह धात्वर्थ और सयुक्तिक दृष्टि से किया गया हो।

(६) एक विशेष अर्थ सूचित करनेके लिए, किसी उसी-जैसे अभिप्रायको संक्षेपमें प्रकट करनेवाले शब्दकी धातुके अर्थके साथ, उस शब्दके प्रवचनको निरुक्त कहते हैं।

भरत मुनिने अपने नाट्य शास्त्रमें इस उपर्युक्त षडङ्ग विवरण को स्वरचित संक्षिप्त 'संग्रह' कहा है (अध्याय ६, श्लोक १४)। आगे ३१ श्लोकपर्यन्त सविस्तर संग्रह दिया है, जो संभवतः किसी पूर्वज विद्वान्की रचना है। इस विस्तृत संग्रहके अनुसार—

(क) रस ८ प्रकारके होते हैं (१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत।

(ख) भाव तीन प्रकारके होते—स्थायी, सत्वज और व्यभिचारी। स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय हैं।

निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति व्रीडा, चपलता, हर्ष आवेग, जड़ता गर्व विषाद औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ये ३३ व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ सात्विक भाव कहे जाते हैं।

इन रस और भावोंका व्याख्यान इसी नाट्य शास्त्रके छठे और सातवें अध्यायमें सविस्तर किया गया है, और यह सब विवरण जिस रूपमें मिलता है, उससे अनुमान होता है कि यहभी किसी प्राचीन ग्रंथका अंश है अथवा ऐसेही ग्रंथके आधारपर रचा गया है। नाट्य शास्त्रमें इस प्रकरणको 'सूत्र-विकल्पन' कहा गया है, जिससे जान पड़ता है कि किसी प्राचीन भाष्य-सहित सूत्र-ग्रंथ के आधारपर ये अध्याय दिये गये हैं। रचना गद्य पद्यमय विशद और स्पष्ट भाषामें है।

(ग) अभिनय चार प्रकारके होते हैं—आङ्गिक (२) वाचिक (३) आहार्य (४) सात्विक।

(घ) धर्मीके दो भेद हैं—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी।

(ङ) वृत्तिके चार भेद हैं—(१) भारती, (२) सात्वती, (३) कैशिकी, (४) आरभटी।

(च) प्रवृत्ति भी चार प्रकारकी बतायी गयी है—(१) आवंति (२) दाक्षिणात्या (३) पाञ्चाली (४) औड्र, मागधी।

(छ) सिद्धि, दैवी और मानुषी दो प्रकारकी होती है।

(ज) षड्ज आदि भेदवाले स्वर दो प्रकारसे उत्पन्न किये जाते हैं- (१) मुखद्वारा गाकर और वीणा द्वारा।

(झ) आतोद्य (बाजे) चार प्रकारके होते हैं—(१) तत (२) अवनद्ध (३) घन (४) सुषिर। तत तारवाले होते हैं। अवनद्ध नगाड़ेके आकारके होते हैं। घन ताल देने वाले बाजे होते हैं। सुषिर उन बाजों को कहते हैं जिनमें सूराख करके उनमेंसे स्वर निकाले जाते हैं।

(ञ) गान पाँच प्रकारका होता है—(१) प्रवेशक (२) आक्षेप (३) निष्क्राम (४) प्रास (५) ध्रुवा

(ट) रंगशाला तीन प्रकारकी होती है—(१) चतरस्र (२) विकृष्ट (३) त्र्यस्र।

अध्याय दो और तीन रंगशालाकी रचना तथा अध्याय १३ के आरम्भमें उसकी सजावटके विषयमें उपदेश किया गया है। बस, सविस्तर संग्रहमें एक प्रकारसे संग्रह-संबंधी विषयोंकी सूची कुछ अधिक विस्तारसे देदी जाती थी। समहमें भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके नाम दिये जाते थे, किन्तु 'सविस्तर सग्रह' में प्रत्येक प्रकरणके अध्याय भी गिनाये जाते थे। इसी प्रकारका एक और संग्रह इस ग्रन्थमें अध्याय २८ से ३५ पर्यन्त "गान्धर्व-संग्रह" के नामसे दिया गया है।

नाट्य शास्त्रमें नृत्यका विषय तण्डु-मत या शिव पद्धतिके अनुसार दिया गया है। गायन-सबंधी विषय किसी प्राचीन 'गान्धर्व संग्रह' से लिया गया है। रस, भाव आदि संग्रहके विषय किन्हीं प्राचीन नाट्य-सूत्रोंसे लिये गये हैं। किन्तु फिरभी अभी कितने ही विषय और हैं जिनपर नाट्यशास्त्रमें प्रकाश डाला गया है। जैसे—भिन्न भिन्न देशोंके निवासियोंकी वेष भूषा, रहन सहन, चाल-ढाल आदि, अनेक देशोंके रीति रिवाज, आभूषण तथा वहाँके नदी, पहाड़, नगर आदिके ऐसे वर्णन, जिन्हें जानकर नाटकमें उनका दर्शन कराया जा सके; अनेक देशोंकी संस्कृत और विकृत बोलियाँ आदि।

सच बात तो यह है कि इस नाट्य-शास्त्रकी रचनासे पहले अनेक सूत्र ग्रंथ, संग्रह ग्रन्थ, वेष-भूषा-आभरण आदिके संबंधमें शिल्प-ज्ञान देनेवाले तथा, भौगोलिक और मानवजाति संबंधी ग्रंथ तैयार होचुके होंगे। भरत मुनिने लाख, लकड़ी, लोहा, पत्थर आदिसे काम लेनेवाले कलाविद् शिल्पियों और कारुकोंका उल्लेख तो किया है किंतु कोई ऐसा अध्याय नहीं लिखा जो इनको भी विशेषरूपसे लाभदायक होता, तो भी नाट्यशालाओंमें काम करने वाले इन कारुकोंके लिये भी प्राचीन कालमें कुछ न कुछ साहित्य अवश्य उपलब्ध रहा होगा।

भरत मुनिके संग्रह ग्रंथोंमें सूत्र, उनके ऊपर भाष्य, शंका समाधान, उदाहरण निरुक्ति, कारिका आदि भी यथेष्ट उद्धृत पाये जाते हैं। इससे भी इस कालके विकासके विषयमें यथेष्ट अनुमान

होता है। भरत मुनिसे पहले नाट्यसूत्र रचे जाते थे, नाटक भी लिखे जाते थे। नाट्य वेदके 'पडंग' की रचना हो चुकी थी, किंतु नाट्यकला को विज्ञानका रूप देनेका श्रेय वास्तवमें भरत मुनि को है जिन्होंने अपने नाट्यशास्त्रमें नाट्यकलासे संबन्ध रखनेवाले सभी आवश्यक और उपयोगी विषयोंका एक विशद संग्रह तैयार कर दिया था। इसीलिए भरत मुनिको नाट्य-सूत्रकार न कहकर तौर्यत्रिक-सूत्रकार कहा गया है।

प्राचीन कालके नाट्याभिनयके उदाहरण—ऊपर 'देवासुर-संग्राम', 'अमृत-मंथन', 'त्रिपुर-दाह' और 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटकोंके अभिनयका उल्लेख आचुका है। यद्यपि प्राचीन समयमें सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक रूपसे नाटक खेलनेकी प्रथा सिद्ध करनेके लिए ये उदाहरण यथेष्ट हैं, तोभी इसके पक्षमें एक और सबल प्रमाण हम यहाँ हरिवंशसे उद्धृत करते हैं—

श्रीकृष्णजीके पिता वसुदेवने जब अश्वमेध यज्ञ किया था, तो आगन्तुक इष्ट मित्रोंको प्रसन्न करनेके लिए भद्र-नामक एक नाट्य-विद्या कुशल नटने नाटक दिखाकर प्रसन्न किया था (हरिवंश, पर्व २, अध्याय ९१, श्लोक २६)। इसकी सहायतासे अनेक यादव स्त्री, विदूषक, नायक, वेश्या आदिके वेशमें, वज्रनाभपुरमें, नगर-रक्षकोंको धोखा देकर घुस गये एवं वज्रनाभसे सत्कार पाकर नाटक करने लगे। एक नाटक उन्होंने रामचरित्र-विषयक दिखाया, जिसमें लोमपाद और दशरथका ऋष्यशृंग और शान्ताको वेश्याओं के साथमें लानेका दृश्य था और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न,

ऋष्यशृंग तथा शान्ताके रूप वेश इतने उत्तम थे कि देखनेवाले वृद्धोंको भी तनकर आश्चर्य होता था। इस अभिनयके अभिनेताओं के संस्कार, अभिनय, प्रस्तावना, साधारण आदि कार्य देखकर सबने सन्तुष्ट होकर उन्हें माला, हार, स्वर्ण हीरा आदि बहुमूल्य वस्तुएँ दीं। यह नाटक उन्होंने वज्रनाभपुरके शाखा-नगर सुपुरमें दिखाया था। किन्तु अभिनय-कर्ताओंकी कार्यकुशलता सुनकर वज्रनाभने उनको राजधानीमें बुलाकर अपने अन्तःपुरमें उनसे नाटक कराया। पहले उन्होंने गङ्गावतरण नाटक खेला। घन, सुषिर मुरज और तन्त्री बाजोंसे उन यदुवंशियोंने वेश्यावेशमें गायन और नृत्य द्वारा दर्शकोंको प्रसन्न किया। गांधार, ग्राम राग, मूर्छा, लय और ताल सभी बातोंसे वज्रनाभ और उसके असुर प्रसन्न हुए। इस अवसरपर प्रद्युम्नने नांदीका और सांबने नटका अभिनय किया था। दूसरा नाटक उन्होंने 'रम्भाभिसार' खेला। इसमें शूरने रावणका, 'मनोवती' वेश्याने रम्भाका, प्रद्युम्नने नलकूबरका और साबने विदूषकका अभिनय किया। रङ्गभूमिमें कैलाश पर्वत दिखाया गया था। नलकूबरका क्रोधमें भरकर रावणको शाप देना और रम्भाको समझाना आदि कार्य नृत्यके साथ दिखाये गये थे। इस सफलतापर भी उन्हें अत्यन्त उदारतासे पुरस्कार दिया गया। किन्तु सबसे अधिक विशेषताकी बात तो यह थी कि अन्त समय तक वे असुर धोखेमें रहे और इन नाटक दिखानेवाले छद्मवेशधारी यादवों को न पहचान सके (अध्याय ९२ और ९३)।